ॐ श्रीपरमात्मने नमः

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,५०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, अप्रैल १९७८

चित्र-सूची

Free of Charge] जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण
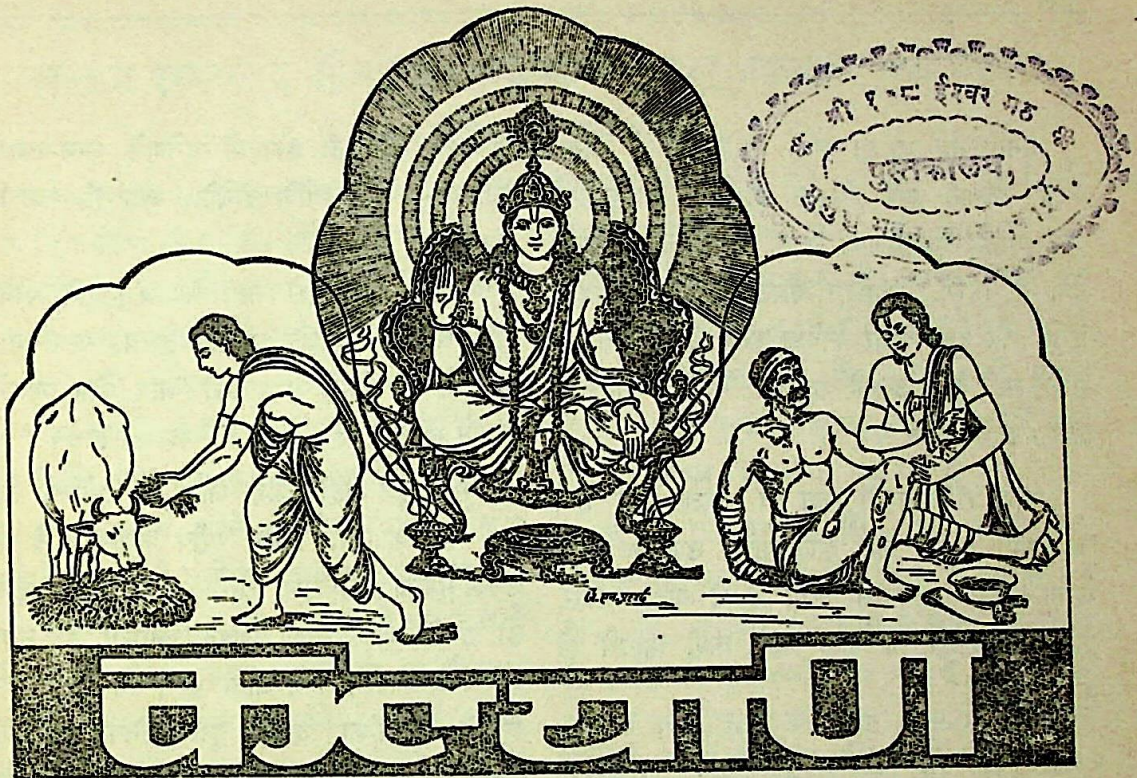
श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः । जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥

वर्ष ५२ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०४, अप्रैल १९७८ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ६१७

श्रीराधाका लीला-शुकसे कृष्णप्रेमालाप

दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता ।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः ॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पू, स्तबक ८, सं० १०९)

वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिका मणिमय पिंजरेमें स्थित अपने क्रीडा-शुकको कृष्ण ! कृष्ण !! पढ़ाती हुई, उसे रटाती हुई कहती हैं—'मेरी दुरूह प्रीति तो अनेक साधनोंसे भी दुष्प्राप्य श्रीकृष्ण-रूप-जनमें विद्यमान है, किंतु उस प्रीतिको किसीके आगे प्रकट करनेमें मुझे अतिशय लज्जा होती है, गुरुजनोंके विष-वचनोंकी वृष्टियोंसे मेरी बुद्धि अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त हो गयी है और मेरा शरीर भी पराधीन है, साथ ही मेरा यह जन्म कुलीन वंशमें हुआ है । ऐसे (जटिल जीवनके) दुःखोंसे घबराकर तो प्राणीको प्राण न्यौछावर कर देना उचित है; तथापि यह (राधारूप) जन तो अभी जी ही रहा है । लगता है, इसका मरण (विधाताने) कठिन बना रखा है ।'

कल्याण

मनकी नीरोगता ही सची नीरोगता है। जिसका शरीर बलवान् और हृष्ट-पुष्ट है, परंतु जिसके मनमें बुरी वासना, असद्विचार, काम, क्रोध, लोभ, घृणा, द्वेष, वैर, हिंसा, अभिमान, कपट, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि दुर्गुण और दुष्ट विचार निवास करते हैं, वह कदापि नीरोग नहीं है। उसकी शारीरिक नीरोगता भी बहुत शीघ्र नष्ट होनेवाली है।

मनका रोगी आदमी सदा ही जलता रहता है। वह कभी शान्ति और शीतलताकी उपलब्धि नहीं करता। कभी कामनासे जलता है तो कभी लोभसे, कभी अभिमानसे तो कभी वैरसे, कभी क्रोधसे तो कभी ईर्ष्यासे!

सुन्दर भी वही है, जिसका हृदय सुन्दर है। जो आकृतिसे बहुत सुन्दर है, जिसके शरीरका रंग और चेहरेकी बनावट बहुत ही आकर्षक है, परंतु जिसके हृदयमें दुर्गुण और दोष भरे हैं, वह गंदे हृदयका मनुष्य सदा ही असुन्दर है। ज्यों ही उसके हृदयके भाव बाहर जाते हैं, त्यों ही वह सबकी घृणाका पात्र बन जाता है।

हृदयको शुद्ध करो, एक-एक दोषको चुन-चुनकर निकाल दो, सद्गुणोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर हृदयमें बसाओ, तुम्हारा हृदय देवपुरी बन जायगा। देवता वही है जिसके हृदयमें दैवी गुण भरे हैं, नहीं तो वह देव-वेषमें असुर ही है।

धरतीका धन ही धन नहीं है, सच्चा धन हृदयमें रहता है, उत्तम विचार और महान् चरित्र-बल ही परम धन है। यह धन—ऐश्वर्य और सौन्दर्यका यह खजाना, एक टूटी झोपड़ीमें रहनेवाले अन्न-वस्त्ररहित आडम्बर-शून्य हड्डियोंके ढाँचेके अंदर भी गड़ा मिल सकता है।

जिसके पास पैसे नहीं हैं, परंतु बुद्धि, विवेक, सत्य, श्रद्धा, चरित्र और प्रभुभक्ति है, वह परम धनी है और जो पैसेवाले हैं या रात-दिन मात्र पैसा बटोरनेके काममें ही लगे रहते हैं, वे तो सदा ही निर्धन हैं।

सब कुछ यहीं छोड़ जाना है, इसलिये ऐसा धन मत कमाओ, जिसमें गरीब तबाह होते हों, उनके मुँहका रूखा-सूखा कौर—रोटीका टुकड़ा छिनता हो, उनके बाल-बच्चोंका जीवन बिगड़ता हो, उनका भविष्य अन्धकारमय बन जाता हो। धन तो चला ही जायगा, गरीबोंका दारुण दुःख, उनका आर्त्तनाद, उनकी संताप-ज्वाला प्रलयाग्नि बनकर तुम्हारे सुखके नगरको भस्मीभूत कर डालेगी।

दुखियामें, अनाथमें, भूखेमें, रोगीमें, असहायमें, विधवामें, अपाहिजमें, मूक पशुओं और पक्षियोंमें, विपद्ग्रस्तोंमें, पापमें डूबे हुए लोगोंमें, पथ भूले हुए पथिकोंमें, शत्रुतासे बर्तनेवालोंमें और आडम्बरी लोगोंमें भगवान्‌को देखो और उनकी यथायोग्य पूजा कर—तन, मन, धनसे यथोचित उनका हित कर, भगवान्‌के प्रियपात्र बनो।

सुख न पहुँचा सको तो दुःख तो किसीको न पहुँचाओ, धरतीपरसे पापका भार हल्का न कर सको तो पापमय जीवन बनाकर उसके भारको बढ़ाओ मत। जीवनको प्रभुमय, सादा, स्पष्ट, सरल, श्रद्धामय बनाओ और विवेकको सदा साथ रक्खो। वस्तुतः यही भगवान्‌की सच्ची सेवा है। —श्रीभाईजी

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका महत्त्वपूर्ण एक प्रवचन

[मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय]

मनुष्य-जीवनका समय अमूल्य है। समयकी कीमत न जाननेके कारण ही लोगोंका बहुत-सा समय व्यर्थ ही चला जाता है, इसीलिये आत्मकल्याणमें विलम्ब होता है। कहा जा सकता है कि कानून-पेशावाले वकील, बैरिस्टर प्रभृति तो समयका सदुपयोग करते हैं, क्योंकि वे अपने समयके प्रत्येक मिनटका पैसा ले लेते हैं; किंतु पैसोंसे मनुष्य-जीवनका वास्तविक ध्येय सिद्ध नहीं होता। जो मनुष्य अपने अनमोल समयको पैसोंके बदले बेच डालते हैं, पैसोंसे होनेवाले भावी दुष्परिणामको नहीं समझनेके कारण पैसे इकट्ठे करते चले जाते हैं और जीवित कालमें उनसे कुछ भौतिक सुखकी प्राप्ति करते हैं, वे वस्तुतः कल्याण-मार्गमें कुछ भी अग्रसर नहीं होते। (फिर उनका समय सार्थक कैसे हुआ?)

मरनेके समय उन्हें एकत्र किया हुआ सारा धन यहीं छोड़ जाना पड़ता है, उससे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह शोक और चिन्ताका बढ़ानेवाला ही होता है। अतएव जो धन, मान आदिके मोलपर अपने अमूल्य समयको बेच डालते हैं, वे अपनी समझसे बुद्धिमान् होनेपर भी वास्तवमें बुद्धिमान् नहीं हैं। बुद्धिमान् तो वे ही कहे जा सकते हैं, जो जीवनके अमूल्य समयको अमूल्य कार्योंमें ही लगाते हैं। अमूल्य कार्य भी उसीको समझना चाहिये, जिससे अमूल्य वस्तुकी प्राप्ति हो। वह अमूल्य वस्तु है—परमात्माके तत्त्व-ज्ञानसे होनेवाली आत्मोन्नतिकी चरम सीमा—परमेश्वर के स्वरूपकी प्राप्ति। इसीको दूसरे शब्दोंमें परम पदकी प्राप्ति अथवा मुक्ति भी कहते हैं।

चिन्त्य बात है कि बहुतसे भाई तो ऐसे हैं जो अपने समयको चौपड़, ताश, शतरंज आदि खेलनेमें, सांसारिक भोगोंमें एवं निद्रा, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ ही बिता देते हैं। बहुत-से ऐसे मूढ़ हैं, जो जीवनके अमूल्य समयको चोरी, जारी, झूठ-कपट आदि कुकर्मोंमें बिताकर इस लोक और परलोक दोनोंसे भ्रष्ट होकर दुःखके भाजन बनते हैं और कितने ऐसे हैं, जो सुल्फा, गाँजा, कोकिन और मदिरा आदि मादक द्रव्योंके सेवनमें समय नष्ट करके नरकके भागी बनते हैं। यह समयका अत्यन्त ही दुरुपयोग है।

उचित तो यह है कि हमारा प्रत्येक श्वास श्रीभगवान्‌के स्मरणमें ही बीते। एक क्षण भी व्यर्थ न जाय। फिर पाप और प्रमादमें समय बिताना तो अत्यन्त ही मूर्खता है। असलमें बात यह है कि हमलोगोंने समयकी उपयोगिताको अभी समझा ही नहीं। जैसे पैसेकी उपयोगिता समझी हुई है, वैसे ही यदि समयकी उपयोगिता समझी जाती तो भूलकर भी हमारा एक क्षणका समय ईश्वर-स्मरण बिना नहीं बीत सकता। हम किरायेकी मोटरपर सवार होकर कहीं जाते हैं और रास्तेमें किसी सज्जनसे बातें करनेके लिये मोटरको रोकना पड़ता है तो उस समय हम उनसे अच्छी तरह बात नहीं करना चाहते, क्योंकि हमारी नजर तो प्रति मिनट करीब कुछ पैसे चार्ज करनेवाले मीटरपर लगी रहती है। यह पैसेकी उपयोगिता समझनेका नमूना है। प्रति मिनटके कुछ पैसेसे भी अधिक हम समयकी उपयोगिताको नहीं समझते। हमारे लिये उचित तो यह है कि जैसे मोटरमें बैठे किसीसे बात करते समय हमारा मन पैसोंमें लगा रहता है इसी प्रकार संसारका प्रत्येक कार्य करते समय अमूल्य जीवनका एक-एक क्षण मुख्यरूपसे श्रद्धा और प्रेमके साथ परम प्रेमास्पद परमात्माके चिन्तनमें ही लगा रहे।

इस प्रकार चिन्तन करते-करते भगवान्‌की दयासे किसी भी क्षण हमें भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। जिस क्षणमें भगवत्-प्राप्ति होती है, उस क्षणका जीवन अत्यन्त अमूल्य है। उस समयकी तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती। परंतु वैसा समय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक चिन्तन करनेसे ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये हमें श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके स्वरूपका सदा-सर्वदा चिन्तन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करनेपर हमारा सम्पूर्ण समय अमूल्य समझा जायगा। यदि प्रेम और श्रद्धाकी कमीके कारण जीवनभरमें भगवत्-प्राप्ति न भी हुई तो भी कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि अभ्यासके बलसे अन्त समयमें भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन अवश्य होगा। गीता (८ । ५)में भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो अन्त-समय मेरा चिन्तन करता हुआ देह त्यागकर परलोक जाता है वह निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है, इसमें कोई भी संशय नहीं है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

किंतु चिन्त्य है कि हमलोग ईश्वर-भजनकी कीमत कौड़ियोंके बराबर भी नहीं समझते। मान लीजिये एक पुरुष सालभरमें आठ हजार एक सौ रुपये कमाता है। ऐसा व्यक्ति भी यदि रोजगार छोड़कर* भजन करे तो उसका भी वह भजन कौड़ियोंसे सस्ता ही हो जाता है। जैसे वार्षिक ८१००)के हिसाबसे एक महीनेके ६७५), एक दिनके २२।।), एक घंटेका ६० पैसा (पुराना) एवं एक मिनटका एक पैसा होता है। एक पैसेकी अधिक-से-अधिक साठ कौड़ियाँ समझी जायँ और ईश्वरका नाम-स्मरण एक मिनटमें कम-से-कम एक सौ बीस बार किया जाय यानी एक सेकंडमें दो नाम लिये जायँ तो भी वह कौड़ियोंसे मंदा पड़ता है। जब ८१००) सालाना कमानेवालेसे भजनका परता कौड़ियोंसे मंदा पड़ता है तब हजार-पाँच सौ रुपये सालाना कमानेवालेकी तो गिनती ही क्या है ? (फलतः भजनमें लाभ है।)

कञ्चन-कामिनी, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाकी आसक्तिमें फँसकर जो लोग अपने अमूल्य समयको बिताते हैं, उनका वह समय और परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है, इसके अतिरिक्त उनकी आत्माका अधःपतन भी हो जाता है।

धनकी आसक्तिमें फँसा हुआ लोभी मनुष्य अनेक प्रकारके अनर्थ करके धन कमाता है। धनके कमाने और उसकी रक्षा करनेमें बड़ा भारी क्लेश और परिश्रम होता है। उसके खर्च करनेमें भी कम दुःख नहीं होता और फिर धनको त्यागकर जानेके समय तो किसी-किसी-को प्राण-वियोगसे भी बढ़कर दुःख होता है। जैसे निर्धन आदमी धन-उपार्जनकी चिन्ता करता है और ऋणी ऋण चुकानेके लिये व्याकुल रहता है, वैसे ही धनी आदमी धनकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है।

वस्तुतः धन कमानेकी लालसा आत्माका अधःपतन करनेवाली है, इसी प्रकार स्त्री-संगकी इच्छा उससे भी बढ़कर आत्माका पतन करती है। पर-स्त्री-गमनकी तो बात ही क्या है, वह तो अत्यन्त ही निन्दनीय और घोर नरकमें ले जानेवाला कर्म है; परंतु अपनी विवाहिता स्त्रीका सहवास भी शास्त्रविपरीत हो तो कम हानिकारक नहीं है। आसक्तिके कारण शास्त्रविपरीत आचरण करना मामूली बात है। जब साधन करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषकी इन्द्रियाँ भी बलात्कारसे मनको विषयोंमें लगा देती हैं तो फिर साधनरहित विषयासक्त पामर मूर्खोंका पतन होना कौन बड़ी बात है ?

* वास्तवमें रोजगारको स्वरूपसे छुड़ानेका हमारा अभिप्राय नहीं है, केवल भजनकी महिमा दिखानेके लिये लिखा गया है। उत्तम बात तो यह है कि मुख्य वृत्तिसे परमात्माको याद रखता हुआ गौणी वृत्तिसे व्यवहार करे।

जैसे मूर्ख रोगी स्वादके वश हुआ कुपथ्य करके मर जाता है, वैसे ही कामी पुरुष स्त्रीका अनुचित सेवन करके अपना नाश कर डालता है। विलासिताकी बुद्धिसे स्त्रीका सेवन करनेसे कामोद्दीपन होता है और कामका वेग बढ़नेसे बुद्धिका नाश हो जाता है, कामसे मोहित हुआ नष्टबुद्धि पुरुष चाहे जैसा विपरीत आचरण भी कर बैठता है, जिससे उसका सर्वथा अधःपतन हो जाता है। कामोपभोगसे अधःपतन होना—अनेकोंने अनुभव किया है। अतः उससे बचना चाहिये।

स्त्रीके सेवनसे बुद्धि, वीर्य, तेज, उत्साह, स्मृति और सद्गुणोंका नाश हो जाता है एवं शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर मनुष्य मृत्युके समीप पहुँच जाता है। वह इस लोकके सुख, कीर्ति और धर्मको खोकर नरकमें गिर पड़ता है। यही आत्माका पतन है। इसलिये साधुजन कञ्चन और कामिनीका भीतर और बाहरसे सर्वथा त्याग कर देते हैं। वास्तवमें भीतरका त्याग ही असली त्याग है; क्योंकि ममता, अभिमान और आसक्तिसे रहित हुआ गृही मनुष्य न्याययुक्त कञ्चन और कामिनीके साथ सम्बन्ध रखनेपर भी त्यागी माना गया है।

मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें तो अच्छे-अच्छे साधक भी फँस जाते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा साधन-पथमें भी दूरतक मनुष्यका पिण्ड नहीं छोड़ती। आरम्भमें तो यह अमृतके तुल्य प्रतीत होती है, परंतु परिणाममें विषसे भी बढ़कर है। अज्ञानवशातः यह बहुतसे अच्छे-अच्छे पुरुषोंके चित्तको डाँवाडोल कर देती है।

साधक पुरुष भी मोहके कारण यह मान लेते हैं कि मेरी पूजा और प्रतिष्ठा करनेवाले पवित्र होते हैं। इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं। परंतु ऐसा समझनेवालोंकी बुद्धि उन्हें धोखा देती है और वे मोह-जालमें फँसकर साधनपथसे गिर जाते हैं। बहुतसे पुरुष तो मान-बड़ाई प्रतिष्ठाकी इच्छाके लिये ही ईश्वर-भक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कार्यमें प्रवृत्त होते हैं। परंतु ये सब कार्य स्वयम्में महत्त्वपूर्ण हैं, मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा तो आनुषङ्गिक हैं।

दूसरे जो जिज्ञासु अपने आत्माके कल्याणके उद्देश्यसे ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्म करते हैं, वे भी मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाको पाकर फिसल जाते हैं और उनके ध्येयका परिवर्तन हो जाता है। ध्येयके बदल जानेसे उनके सब काम मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये होने लगते हैं और उनके हृदयमें झूठ, कपट, दम्भ और घमण्डको स्थान मिल जाता है, इससे उनका भी पतन हो जाता है।

दूसरे जो कुछ अच्छे साधक होते हैं, उनका ध्येय तो नहीं बदलता, परंतु वे भी स्वभावतः मनको प्रिय लगनेके कारण मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें फँसकर उत्तम मार्गमें जानेसे रुक जाते हैं। आजकल जो साधु, महात्मा, भक्त और ज्ञानी माने जाते हैं, उनमेंसे तो कोई विरले ही ऐसे होंगे, जो इनके जालमें न फँसे हों।

पामर और विषयासक्त पुरुषोंको तो ये अमृतके तुल्य दीखते हैं, किंतु बुद्धिमान् साधक तत्त्वज्ञानी और विरक्त पुरुषोंके संगके प्रतापसे विचार-बुद्धिके द्वारा परिणाममें विषके सदृश समझकर इनको नहीं चाहते। यही उनके विवेक और तत्त्वज्ञानका प्रभाव होता है। इनमें भी जो मुलाहिजे (शील संकोच)में फँसकर या मनके धोखेसे इन्हें स्वीकार कर लेते हैं, वे भी प्रायः गिर जाते हैं।

जो उच्च श्रेणीके साधक हैं और जिन्हें इन सबमें वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो गया है, उन विरक्त पुरुषोंकी इन सबसे प्रत्यक्ष घृणा हो जाती है। इसलिये वे इनसे उपरत हो जाते हैं। जैसे मद्य और मांस न खानेवालेके चित्तकी वृत्तियाँ मद्य-मांसकी ओर स्वाभाविक ही नहीं जातीं, वैसे

ही उन विरक्त पुरुषोंके चित्तकी वृत्तियाँ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी ओर नहीं जातीं। बुद्धिमान् रोगी जैसे कुपथ्यसे डरते हैं, वैसे ही वे उनके संसर्ग और सेवनसे मृत्युके (भय) सदृश डरते हैं। जहाँ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा होती है वहाँ प्रथम तो प्रायः वे लोग जाते ही नहीं, यदि जाते भी हैं तो उन सबको स्वीकार नहीं करते। कोई बलात्कारसे मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा कर देता है तो उनके दिलोंमें वे सब खटकते हैं।

जो ज्ञानवान् हैं, अर्थात् ईश्वरके तत्त्वज्ञानसे जिन्हें परम वैराग्य और परम उपरामता प्राप्त हो गयी है, उनके विषयमें तो कुछ लिखना बनता ही नहीं। वे तो समुद्रके सदृश गम्भीर निर्भय और धीर होते हैं। मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाको तो वे चाहते ही नहीं; यदि बलात्कारसे कोई कर देते हैं तो वे इतने उपराम होते हैं कि श्रीशुकदेवजीकी भाँति उनकी वाञ्छा ही नहीं करते। (उनके लिये तो वे साधनकी बाधा हैं)

जब उनकी दृष्टिमें परमात्माके अतिरिक्त संसार ही नहीं है तो फिर सांसारिक राग, वैराग्य, मान, अपमान, निन्दा-स्तुतिको स्थान ही कहाँ है ? उन पुरुषोंको छोड़कर और कोई विरला ही पुरुष होगा, जो मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाको पाकर न गिर जाता हो। अतएव कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके मोहमें फँसकर अपने मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ गवाँकर आत्माका पतन नहीं करना चाहिये।

मनुष्य-जीवनका एक-एक श्वास ऐसा अमूल्य है कि जिसकी आशंस नहीं की जा सकती; क्योंकि ईश्वर-कृपाके प्रभावसे उत्तम देश, काल और सत्सङ्गको पाकर यह मनुष्य एक क्षणमें भी परम पदको प्राप्त हो सकता है। किसी कविने भी कहा है—

ऐसे महँगे मोलका एक स्वास जो जाय।
तीन लोक नहिं पटतरे काहे धूरि मिलाय॥

मनुष्यके जीवनका समय बहुत ही अनमोल है। एक-एक श्वासपर सौ-सौ रुपये खर्च करनेसे भी एक श्वासका समय नहीं बढ़ सकता। रुपये खर्च करनेसे समय मिल जाता तो राजा-महाराज, सेठ-साहूकार भी कोई नहीं मरते। इसीलिये रुपयोंसे बढ़कर समयका मूल्य है।

पैसोंसे ही नहीं, रत्नोंके मोलपर भी मनुष्य-जीवनका समय हमको नहीं मिल सकता। इसलिये ऐसे अमूल्य समयको जो व्यर्थ खोयेगा, उसको अवश्य ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील संसारके सभी पदार्थ जीर्ण और नाशको प्राप्त होते हुए क्षण-क्षणमें हम लोगोंको चेतावनी दे रहे हैं, परंतु हमलोग नहीं चेतते। समयकी कीमत नहीं समझते।

प्रति सेकेण्ड टिक-टिक करती हुई घड़ी हमें समय बतलाती है; परंतु हम ध्यान नहीं देते। हमारे शरीरके नख, रोम और अवस्थाओंका परिवर्तन, इन्द्रियोंका ह्रास तथा बीमारियोंकी उत्पत्ति हमको समय-समयपर मौतकी याद दिलाती है तो भी हम सावधान नहीं होते। इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या होगा ?

हम लोग मायारूपी मदिराको पीकर ऐसे मोहित हो गये हैं कि उसका नशा कभी उतरता ही नहीं। संत कवियोंने भी हमें कम चेतावनी नहीं दी है; परंतु हम किसीकी परवा ही नहीं करते, फिर हमारा कल्याण कैसे हो ?

नारायण स्वामीजी कहते हैं—

दो बातनको भूल मत जो चाहत कल्यान।
नारायण इक मौतको दूजे श्रीभगवान॥

श्रीकबीरदासजीके वचन तो चेतावनीसे भरे हुए हैं—

कबीर नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखी आय॥
आज कालकी पाँच दिन जंगल होना बास।
ऊपर ऊपर हल फिरैं ढोर चरैंगे घास॥
मरहुगे मरि जाओगे कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसाओगे छाँड़ि बसंता गाम॥

हाड जलै ज्यों लाकड़ी केस जलै ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास॥
कबिरा सूता क्या करै जागो जपो मुरारि।
एक दिना है सोवना लंबे पाँव पसारि॥

जब कबीर-सदृश संतकी चेतावनी सुनकर भी हमारी अज्ञाननिद्रा भङ्ग नहीं होती तो दूसरोंकी तो हम सुनें ही क्या?

कर्तव्यको भूलकर भोग, प्रमाद, आलस्य और सांसारिक स्वार्थ-सिद्धिमें मोहित होकर तल्लीन हो जाना ही निद्रा है।

चराचर भूत-प्राणी ईश्वरका अंश होनेके कारण ईश्वरके स्वरूप ही हैं। इस प्रकार समझकर उनके हितमें रत होकर उनकी सेवा करना और सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके तत्त्वको जानकर उनको कभी नहीं भूलना, यही जागना है।

श्रुति भी इसी बातको लक्ष्य कराती हुई डंकेकी चोट हमें जगा रही है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केन० २।५)

'यदि इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया तो सत्य है यानी उत्तम है, यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है। धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तनकर, परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।'

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
(कठ० १।३।१४)

'उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो' ऐसे उद्बोधनपर भी हमलोग नहीं चेतेंगे तो फिर हम लोगोंका उसी दशाको प्राप्त होना अनिवार्य है जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥
(मानस ७।४४)

मनकी गति

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

करहु जनि या मनकी परतीति।
जानत हूँ मानत न सदा यह, चलत चाल विपरीत॥
भाँति-भाँति के भोग भोगि यह आपहु भयो पलीत।
हित की गति तजि रुचिवस पामर बहु विधि करत अनीति॥
सदा रहहु हरि के ह्वै राखहु उनकी नीति पुनीत।
करिहैं सदा-सदा पथ-दरसन, पैहो उनकी प्रीत॥
उनके ह्वै अनुसरहु वृथा क्यों मन को मग विपरीत।
वे भव-भंजन रखिहैं आपुहि अपने जन की जीत॥
उनकी रति ही है गति जनकी, यही एक रस-रीति।
उनके ह्वै उनही की राखहु, रहिहौ सदा अभीति॥

विनाशके पथपर

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका महत्त्वपूर्ण पत्रोत्तर)

एक सज्जनने बड़ी ही करुणापूर्ण भाषामें पढ़े-लिखे युवक-युवतियोंमें फैलते हुए व्यभिचारकी चर्चा करते हुए इस पापसे समाजके बचनेका उपाय पूछा है। आप लिखते हैं—'हमारा पतन हो गया, हमारे राम-लक्ष्मण और भीष्मार्जुनका आदर्श आज नष्ट हो गया। सीता-सावित्रीका नाम लेते जी काँपता है, हमारी जबान उनका नाम लेने लायक नहीं रही।....दूसरे प्रान्तोंका तो मुझे पता नहीं; परंतु हमारे यहाँ जो कुछ हो रहा है, उसे देख-सुनकर दिलके टूक-टूक हुए जा रहे हैं। मेरी आँखोंसे आँसू कभी सूखते नहीं। ....धर्मका खयाल जाता रहा, विवाहका बखेड़ा क्यों किया जाय—यह भाव बढ़ रहा है, जवान लड़कियोंमें भी यह भाव फैल रहा है। कालेज युवक-युवतियोंके परस्परके आकर्षणकेन्द्र बन रहे हैं और सिनेमा या सिनेमाका बहाना मिलनेकी उच्छृङ्खल प्रवृत्ति बढ़ रही है। आजकल संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंके सहज हो जानेसे तो अनर्थ और भी बढ़ गया है। अब तो कोई डर ही नहीं रहा। चारों ओर स्वतन्त्रताके नामपर मर्यादाके नाशका नंगा नाच हो रहा है। अदूरदर्शी जवान लड़के और लड़कियाँ मनमानी कर रहे हैं, भागने-भगानेकी वारदातें भी बढ़ रही हैं। क्या-क्या लिखूँ, एक-एक घटनाके लिये हृदयमें आग सुलग रही है।....ऐसा कोई उपाय बतलाइये, जिससे यह पापका प्रवाह रुके। समाजमें यह पाप घर कर गया है, ऊपरसे नहीं मालूम होता, परंतु अंदरकी हालत बहुत ही बुरी है।....'

पता नहीं, पत्रलेखक महोदयका कथन कहाँतक सत्य है, परंतु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसमें आंशिक सत्यता तो अवश्य ही है—कुछ अतिशयोक्ति भले ही हो। ये भाई बहुत ही दुःखी मालूम होते हैं, सम्भव है किसी घटनाका इनपर असर पड़ा हो। मैं इस बारेमें कुछ लिखना नहीं चाहता था; परंतु इन्होंने बहुत ही आग्रहपूर्वक आज्ञा दी है इसलिये लिखना पड़ता है। वास्तवमें आज हमारे नौजवानोंकी दशा बहुत ही शोचनीय हो रही है। इस बुराईमें विचार करनेपर मुख्यतया निम्नलिखित कारण जान पड़ते हैं—

१—स्कूल-कालेजोंकी धर्महीन पढ़ाई, २—यूरोपीय सभ्यता-संस्कृतिका प्रभाव, ३—स्कूल-कालेजोंमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ाया जाना, ४—युवती-विवाह, ५—सिनेमाओंका बढ़ता हुआ प्रचार, ६—विलासिता, फैशन, आरामतलबी और आलस्य, ७—शारीरिक सौन्दर्यका महत्त्व और रूपप्रतियोगिताका प्रचार, ८—सभी बातोंमें स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता और समानताका दावा, ९—संतान-निरोधके कृत्रिम उपायोंका प्रचार तथा १०—सुधारोन्मत्तता।

अब इनपर संक्षेपमें कुछ विचार करें।

भारतवर्षका प्राण धर्म है, धर्मज्ञान ही शिक्षाका मुख्य विषय है, धर्मज्ञानहीन मनुष्य आर्य सभ्यतामें पशु माना जाता है। परंतु आजकी शिक्षामें धर्मका कहीं नामनिशान भी नहीं है। केवल अर्थकरी विद्या वास्तविक विद्या नहीं है। फिर आज तो यह विद्या अर्थकरी भी नहीं रह गयी। विश्वविद्यालयोंसे प्रत्येक वर्ष लाखों विद्यार्थी डिग्रियाँ पाकर निकलते हैं और फिर उन्हें कहीं नौकरी नहीं मिलती। वर्तमान शिक्षाक्रम तो इस दृष्टिसे भी लाभदायक सिद्ध नहीं हो रहा है। धर्मको तो इस शिक्षाक्रमने उड़ा ही दिया है। इस शिक्षाका ही यह परिणाम है कि आज धर्मके नामसे भी पढ़े-लिखे होनेका अभिमान करनेवाले

लोग नाक-भौं सिकोड़ते हैं । जहाँ धर्म-भाव लुप्त होगा, वहाँ संयम नहीं रहेगा और संयमके नाशसे व्यभिचार फैलेगा ही ।

वर्तमान शिक्षाका एक बहुत बुरा परिणाम यह हुआ है कि भारतवासियोंको अपने पूर्वपुरुष, अपने साहित्य, अपनी सभ्यता और संस्कृति एवं अपनी सारी त्यागमयी जीवनप्रणालीके प्रति अश्रद्धा हो गयी है । देशकी गुलामी इस मनकी गुलामीसे कहीं कम खतरनाक होती है । शारीरिक परतन्त्रता प्रयाससे सहज छूट सकती है, परंतु इस मानसिक परतन्त्रताका छूटना शारीरिक स्वतन्त्रताकी हालतमें भी बहुत कठिन है । भारतवासियोंने अपना मन पाश्चात्त्य संस्कृतिके हाथों बेच दिया । इसीसे आज बात-बातमें हमें उनकी सभ्यता अच्छी लगती है । उनके साहित्यपर हमारी श्रद्धा बढ़ रही है, उनके महात्माओंको ही हम वास्तविक महात्मा मानते हैं, हमारे धर्मग्रन्थोंकी बात भी यदि उनकी वाणीसे या कलमके माध्यमसे उनकी भावना बनकर हमें मिलती है तो हम उसे मान लेते हैं । अपना मस्तिष्क तो हमने उनकी गुलामीके लिये ही सौंप दिया है । परिणाम यह हुआ कि रीति-नीति, वेश-भूषा, बोल-चाल, विवाह-शादी, व्यवहार-बर्ताव सभी बातोंमें आज हम उनकी नकल करनेमें ही अपनेको धन्य समझने लगे हैं । पुरानी चालके मनुष्योंको अन्धविश्वासी बतलाया जाता है; और फलतः पाश्चात्त्योंकी यह अन्ध-नकल इतनी बढ़ गयी है कि जिसकी कोई सीमा ही नहीं रही । महात्मा गाँधीके प्रभावसे वेश-भूषामें कुछ सादगी या भारतीयता आयी थी, परंतु अधिकतर लोगोंके मन अब भी उसी ओर खिंचे चले जा रहे हैं । इस संस्कृतिका प्रभाव हमारे नौजवानोंपर सबसे अधिक पड़ा है । कारण स्पष्ट है, होश सँभलते ही स्कूलोंमें गये और वहाँके नौजवान गुरुओं—मास्टरोंसे—जिनमेंसे अधिकांश अपना मन और मस्तिष्क बहुत अंशमें पाश्चात्त्य संस्कृतिको अर्पण कर चुके हैं—उन्हें वैसी ही शिक्षा मिली फिर कालेजमें भरती हुए, धर्मग्रन्थोंका कहीं अक्षर भी पढ़नेको नहीं मिला । यदि कहीं मिला तो वह पाश्चात्त्यजनों और पाश्चात्त्य सभ्यताके भक्त विद्वानोंके द्वारा विकृत किया हुआ । धर्मज्ञान प्राप्त ही नहीं हुआ । परिणाम यह हुआ कि इन्हें पुराना सोना भी लोहा दीखने लगा । पुराने गुलाबमें भी नाबदानकी बदबू आने लगी । क्योंकि दृष्टि और नाक ही बदल गयी । इसीका परिणाम आज हमारी लड़कियोंपर भी पड़ रहा है और पढ़-लिखकर वे भी उसी साँचेमें ढल रही हैं । इस सभ्यताके प्रभावके कारण धर्म, लज्जा, शील, मर्यादा, भोगोंसे वैराग्य, परमार्थ-साधन आदि बातें मनोंमेंसे निकल गयीं; व्यभिचारवृद्धिमें यह भी एक प्रधान कारण है ।

बालविवाहसे समाजकी हानि हुई और होती है, परंतु उस बालविवाहका परिवर्तन जिस 'युवतीविवाह' और 'विवाहकी आवश्यकता'के रूपमें हो रहा है, यह तो और भी भयंकर है । बालविवाहमें बुराई थी और है, बालविवाहकी प्रथाका बहुत दुरुपयोग हुआ और अब भी हो रहा है, इसलिये उसका निषेध आवश्यक था और अब भी है, परंतु उसमें एक बड़ा भारी लाभ अन्तर्हित था, जो अब नष्ट हो रहा है । हिंदू-धर्मके अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है । दो आत्माओंका परस्पर सात्त्विक मिलन है । उसमें कामवासनाको स्थान नहीं है । वहाँ धर्म है, रूपपर मोह नहीं है । इसी उद्देश्यसे लड़के और लड़कियोंके माता-पिता और अभिभावक अपने कुल, धर्म और आचारके अनुकूल घर ढूँढ़कर सम्बन्ध करते थे । उसमें लड़के और लड़कियोंकी उम्र, स्वभाव आदि तो अवश्य ही देखे जाते थे । यहाँतक कि बालकोंके माता-पितातकके स्वभावका पता लगाया जाता था और

परीक्षा की जाती थी। दोनोंका जीवन सुखमय रहे, इस बातके लिये पूरा ध्यान रक्खा जाता था। अवश्य ही दहेजकी प्रथाका विकृत रूप हो जानेसे तथा अन्य कई कारणोंसे माता-पिताद्वारा वर-कन्याके चुनावमें दोष आ गये तथापि वह लाभ तो बहुत अंशमें था ही। जिस दिन सगाई हुई और लड़के-लड़कियोंको इस बातका पता लगता था तभीसे उनका परस्पर स्नेहसूत्र बँध जाता था। ममत्व बढ़ता जाता था। यह निश्चय उन दोनोंके मनमें हो ही जाता था कि हम दोनों पति-पत्नी हो गये। अतएव प्रेम बढ़ता था और किसी कारणसे दूसरी किसी ओर देखनेकी गुंजाइश बहुत ही कम हो जाती थी। कोर्टशिपकी कल्पना भी उनके मनमें नहीं आने पाती थी। इस प्रकार माता-पिताद्वारा किये जानेवाले निश्चित सम्बन्धमें उच्छृङ्खलता और रूपपर मोहको स्थान नहीं था। भूल वहाँ भी होती थी; परंतु बच्चोंके भावी हितकी चिन्तामें लगे हुए माता-पिता आदि अभिभावकगण किसी आवेगके वशमें न होकर शान्त-चित्तसे निर्णय करते थे। उन्हें अपने कर्तव्यका ध्यान रहता था। उनके अंदर सब तरहसे 'बराबरकी जोड़ी' ढूँढ़नेकी एक सुन्दर पवित्र भावना काम करती थी। इससे उनके निर्णयमें भूल कम होती थी। परंतु जवानीकी उम्रमें पहुँचे हुए युवक-युवती भाँति-भाँतिके आवेगोंके वशमें होकर आवेशवश जो परस्पर चुनाव करते हैं, उसमें बड़ी भारी भूल हो जानेकी सम्भावना है। भूलें ऐसी होती हैं कि जिनके परिणाममें या तो उनका जीवन मृत्यु-कालपर्यन्त दुःखी रहता है अथवा उन्हें तलाकका मार्ग ढूँढ़ना पड़ता है। मेरी समझमें 'कोर्टशिप', 'जाती पसंदगी'की प्रथाने ही तलाकके कानूनकी सृष्टि की है। यहाँ भी यही दशा रही तो तलाकका पाप-ताण्डव होगा ही। अस्तु, लड़कोंका बड़ी उम्रमें विवाह करनेकी चर्चाने ज्यों जोर पकड़ा, त्यों ही लड़कियोंके लिये भी ऐसा ही विचार आने लगा। लड़कियाँ भी युवती होनेतक कुमारी रहने लगीं। इसीका परिणाम यह हुआ है कि जिससे हमारे पत्रलेखक भाई आज दुःखके आँसू बहा रहे हैं।

उच्च शिक्षाप्रचारके लिये तो पुकार मची ही हुई थी। लड़कोंके साथ ही उदार महानुभावोंकी शुद्ध भावनाके योगदानसे और प्रचारकोंकी सदिच्छासे लड़कियोंको उच्च शिक्षा दिलानेकी व्यवस्था हुई। उच्चशिक्षासे तात्पर्य बी० ए०, एम० ए०की डिग्रियोंके प्राप्त करनेसे ही है। इसके लिये लड़कियाँ भी कालेज जाने लगीं। धर्महीन पढ़ाई, धर्ममें अश्रद्धा, युवा-अवस्था और संयमकी शिक्षाका अभाव तो था ही, फिर जवान लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, काठ और आगके संयोगकी भाँति बुराईकी लहर पैदा करनेमें बहुत ही सहायक हुआ। इसीके साथ एक बीमारी लड़कियोंमें फैशनकी बढ़ी, विलासिताने जोर पकड़ा। आरामतलबी तो इस शिक्षाका प्रत्यक्ष प्रमाण ही है। किसान या दूकानदारका लड़का अंग्रेजी पढ़कर खेती या दूकानदारी नहीं कर सकता। कई प्रकारके जूते, क्रीम, लोशन, स्नो, साबुन, पाउडर, चश्मा, फोटोग्राफीका सामान आदि कई ऐसी चीजोंको रखनेकी उसे आदत हो जाती है, जो उसके जीवनको आलसी, खर्चीला और आरामतलब बना देती है। यह रोग हमारी लड़कियोंमें तो और भी जोरसे बढ़ रहा है। पढ़ी-लिखी लड़कियाँ घरका काम न सीखती हैं, न करना चाहती हैं। उनसे उनको घृणा है। फैशन बनाना, सजना, अखबार पढ़ना—उपन्यास और काव्य पढ़ना, फोटो उतारना, लेख लिखना, सभाओं और जलसोंमें जाना आदि इतने काम उनके बढ़ गये हैं कि अब घरके कामोंके लिये उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती। सुना जाता है कि करोड़ों रुपये वार्षिक इस सौन्दर्यके सामानोंके लिये विदेश जाते हैं। फैशन और आरामतलबीसे कामुकता बढ़ती है—यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

इसके बाद सिनेमाने तो बड़ा ही अनर्थ किया। समाजमें दुराचार फैलानेका काम सिनेमाओंके द्वारा बड़े जोरसे हो रहा है। जबतक बोलनेवाले चित्रपट नहीं थे, तबतक कुछ खैर थी। परंतु जबसे सवाक् चित्रपटोंका प्रचार हुआ तबसे तो दिनोंदिन खराबी बढ़ती ही जा रही है। यह सत्य है कि चित्रपट एक कला है और कलाका विस्तार देशकी उन्नतिका सूचक है; परंतु विचार यह करना है कि जिस कलाके विस्तारसे देशके हृदयमें क्षय-रोगका उदय होता हो, जो कला देशके युवक-युवतियोंको शारीरिक और मानसिक संक्रामक व्याधियोंसे ग्रस्त कर परिणाममें कराल कालके ग्रास बनानेमें और उनके पवित्र आदर्श चरित्रको नाश करनेमें सहायता करती हो, वह कला तो वस्तुतः कला नहीं, काल ही है। फिर यह भी प्रश्न है कि कलाकी दृष्टिसे कहाँ कितना प्रचार हो रहा है? सिनेमा-कम्पनियोंके मालिकोंमें कितने ऐसे हैं जो कलाके लिये इस व्यवसाय-को करते हैं? मेरी समझमें शायद ही कुछके हृदयोंमें कलाकी उन्नतिका ध्यान होगा। अधिकांशका ध्यान तो धनकी ओर है। धन आता है उन्हीं चित्रपटोंसे, जिनको ज्यादा लोग देखना चाहते हैं और ज्यादा लोग उन्हीं चित्र-पटोंको देखना चाहते हैं, जिनमें सुन्दरी युवती स्त्रियोंके अर्धनग्न अङ्गोंके प्रदर्शनयुक्त पार्ट और शृङ्गारके गायन होते हैं। इसीलिये फिल्मकम्पनियाँ बड़े-बड़े वेतनोंपर नयी-नयी सुन्दरी युवतियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर लाती हैं। इनमेंसे अधिकांश तो लज्जाशीलताको तिलाञ्जलि दे चुकी होती हैं। धार्मिक भावोंवाली युवती कुलकन्याएँ तो लाज-शर्मको तिलाञ्जलि देकर पर-पुरुषोंके साथ मिलकर उनसे अङ्गोंका स्पर्शतक होने देकर खुले अङ्गोंसे नाट्य दिखलानेको क्यों आने लगीं? (पर दुःख है कि कुछ समयसे भले घरोंकी लड़कियोंमें भी फिल्मकम्पनियोंमें नाचनेकी प्रवृत्ति बढ़ रही है, यह और भी पतनका चिह्न है।) सनातन-धर्मियोंको तो रोना चाहिये कि उनके आलस्य, अविवेक एवं धर्महीनताके कारण व्यर्थ ही कुमारी या मिस कहलानेवाली उच्छृङ्खल तरुणियोंके द्वारा प्रातःस्मरणीया जगज्जननी सीता, जो परपुरुषका अङ्ग-स्पर्श होनेके डरसे श्रीहनुमान्‌जीके साथ लंकासे भी लौटनेको तैयार नहीं हुई थीं, उनके और भगवती योगमाया राधा, सतीसावित्री, पार्वती, दमयन्ती और द्रौपदी आदिके निर्लज्ज पार्ट होते हैं! निर्लज्ज इसीलिये कि उन्हें तो फिल्मकम्पनियोंके मालिकोंकी नमकहलाली करनेके लिये अभिनयमें अपने अङ्ग दिखलाकर और हाव-भाव बताकर दर्शकोंके चित्तको खींचना है और इसमें उन्हें कोई लज्जा है नहीं। बहुत बुरी बात तो यह है कि इससे दर्शकोंका चित्त केवल चित्रपट देखनेके लिये ही नहीं खिंचता, उनकी बुरी वासना भी उनमें उत्पन्न हो जाती है, जिसका परिणाम पतनके सिवा और कुछ नहीं है। इसी प्रकार दर्शिकाओंके मनोंमें बुरी भावनाएँ आती हैं। लज्जा छूटती है और अमर्यादा तथा उच्छृङ्खलताकी भावनाएँ बढ़ती हैं। इसीका परिणाम व्यभिचार है। भले घरोंकी लड़कियाँ भी आज धनके लोभसे या मानसिक विकारोंकी प्रेरणासे कुल-मर्यादाको मिटाकर कलाके नामपर और क्रान्तिका बहाना बताकर फिल्म-कम्पनियोंमें भर्ती होनेके लिये ललचा रही हैं। भगवान् ही जानें, इसका कितना बुरा फल होगा। (इसके सिवाय चित्रपटोंकी अधिकतासे गरीब देशकी जो आर्थिक हानि हो रही है वह भी बड़ा ही भीषण है।)

इसीके साथ पाश्चात्य जगत्‌की नकल करते हुए आजकल हमलोग भी शारीरिक सौन्दर्यको आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देने लगे हैं। यूरोपमें रूपकी हाट लगती है। वहाँ सुन्दरी स्त्रियोंके सौन्दर्यकी प्रतियोगिता होती है। उसमें जो सबसे अधिक सुन्दरी साबित होती है उसको इनाम मिलता है और उसके सौन्दर्यकी ख्याति समाचारपत्रोंद्वारा देश-देशान्तरोंमें फैल जाती है। फल यह होता है कि उसका रूप बहुत-से लोगोंका मन

बिगाड़नेमें कारण बनता है । कुछ लोगोंका कहना है कि इस रूपप्रतियोगिताके प्रचारका उद्देश्य स्त्रियोंके स्वास्थ्यको सुधारना है । चाहे यह उद्देश्य रहा हो; परंतु आजकल जो कुछ हो रहा है वह तो बड़ा ही बीभत्स है । उससे तो समाजका मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है । इनाम और नामके लोभसे युवतियाँ अपने शील-संकोचको छोड़कर कामुक पुरुषोंके सामने अपने रूप-यौवनको बड़े ही निर्लज्जभावसे कसौटीपर रखती हैं । वे ऐसा श्रृङ्गार और वेश-भूषा बनाती हैं कि जिससे उनके अङ्गोंका सौन्दर्य खुला दीख पड़े । स्त्रियोंके लिये श्रृङ्गार वर्जित नहीं है, परंतु वह है एक निर्दिष्ट सीमाके अंदर । स्त्री पतिकी प्रसन्नता-के लिये ही, उसके प्रीति-उत्पादनके लिये ही श्रृङ्गार करती है और इस श्रृङ्गारमें भी सब अवस्थाओंमें अङ्ग खुले नहीं रखे जाते । जो श्रृङ्गार राह चलते लोगोंको सौन्दर्य दिखानेके लिये होता है और जिसमें शरीरका अधिकांश अनावृत (खुला) रखना आवश्यक होता है, उसको पतनके सिवा और क्या कहा जाय ! ऐसा तो रूपको बेचकर जीविका चलानेवाली वेश्याएँ भी नहीं करतीं ! इस रूप-प्रतियोगितासे स्त्रियोंकी मर्यादा मिट्टीमें मिल रही है, वे अपने एक विशिष्ट स्थानसे नीचे—बहुत नीचे गिर रही हैं । यह पवित्र शीलवती नारीजातिका घोर पतन है । खेद है कि यह विष अब भारतवर्षमें फैल रहा है । यहाँ भी रूप-प्रतियोगिता आरम्भ हो गयी है । इस अवस्थामें भी व्यभिचार नहीं बढ़ेगा तो कब बढ़ेगा ?

इसके सिवाय स्वतन्त्रता और समान अधिकार तथा सुधारके नामपर आज जो अनर्गल अनाचार हो रहा है, उससे तो सुधारकी जगह संहार ही हो रहा है । आजकल जड़को काट डालना ही सुधार समझा जाता है । इस सुधारोन्मत्तताने भी दुराचारके पथपर समाजके युवक-युवतियोंको अग्रसर करनेमें बड़ी भारी सहायता पहुँचायी है ।

सुधारमें भी संयमकी आवश्यकता है । असंयमपूर्ण सुधारसे जितना नाश होता है उतना सुधार न होनेसे नहीं होता । आज असंयमपूर्ण सुधारकी भयावनी धारा सब ओर बह रही है । इसमें किसी भी पुरानी मर्यादा, सद्भावना और सात्त्विकताको स्थान नहीं है । बस, विध्वंस—केवल विध्वंस ! इस विध्वंसकी चिनगारीका यह दृष्ट फल है कि हमारी सती, सदाचारिणी, शील-संकोचवती, पुण्यचरित्रा और धर्मभीरु देवपूजिता कुल-कन्याएँ मोहवश आँखें मूँदकर नारकीय अग्निकुण्डमें कूदनेको तैयार हो रही हैं और हम उन्मत्त होकर इसे मान रहे हैं—उन्नति !!!

यद्यपि कालकी प्रतिकूलतासे कठिनता बहुत है; परंतु सावधानीके साथ उत्साहपूर्वक अनवरत चेष्टा की जाय तो बहुत अंशमें यह बढ़ता हुआ पाप कम हो सकता है ।

मेरे विचारसे इस पापसे बचनेके ये उपाय हैं—

१—यथासाध्य शिक्षाक्रममें धार्मिक और सदाचार-सम्बन्धी पुस्तकें रखवाना ।

२—प्राचीन कथाओं, उपदेशों और युक्तियोंद्वारा भारतीय सभ्यताके महत्त्वका प्रचार करना ।

३—स्कूल-कालेजोंमें लड़के-लड़कियोंको एक साथ नहीं पढ़ाना ।

४—कन्याओंको अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा दिलानेका मोह छोड़ देना ।

५—ईश्वर और धर्ममें श्रद्धा बढ़े—ऐसे साहित्य और विचारोंका प्रचार करना ।

६—यथासाध्य सिनेमा आदि न देखना और उनकी बुराइयोंसे घरको तथा समाजको बचाये रखनेकी चेष्टा करना ।

७—अपने जान-पहचानमें कोई लड़की चित्रपटमें नाट्य करना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर चित्रपटकी बुराइयाँ समझाकर रोकना ।

८—माता-पिता या अभिभावकोंको यह ध्यान रखना, जिसमें युवती होनेके पहले ही लड़कीका विवाह कर दिया जाय।

९—यथासाध्य लड़कोंको भी बहुत बड़ी उम्रतक क्वाँरे न रखा जाय। मैंने विश्वस्त सूत्रसे सुना था कि भारतवर्षके एक प्रसिद्ध बड़े नगरकी सरकारी युनिवर्सिटीके छात्रोंमें ६० प्रतिशत अविवाहित लड़के बुरी बीमारियोंसे ग्रसित हैं। यदि यह सत्य है तो बड़े ही दुःखकी बात है। अरण्यवासी विषयत्यागी विरक्त पुरुषोंके हृदयमें भी जब दुःसङ्गवश विकार उत्पन्न हो जाता है, तब आजकलके विलासितापूर्ण अमर्यादित, धर्मभयशून्य वातावरणमें, फैशन और सजावटमें सने हुए, श्रृङ्गारकी कविताएँ और नाटक-उपन्यास पढ़नेवाले, कृत्रिम उपायोंसे संततिनिरोधकी सुविधा रहते, साथ-साथ रहनेवाले युवक-युवतियोंसे सर्वथा पवित्र बने रहनेकी आशा रखना, उनकी शक्तिसे अधिक आशा करना है—दुराशामात्र है। अतएव योग्य वयमें उनका विवाह कर देना उत्तम है।

१०—पढ़नेवाली लड़कियोंमें भी फैशन न आवे और वे घरका काम-काज खुद कर सकें, ऐसी आदत माता-पिताको खुद आदर्श बनकर उनमें डालनी चाहिये। उन्हें घरका काम सिखाना और उनसे कराना चाहिये। फैशन, विलासिता, आलस्य, आरामतलबीके विषैले भावोंसे उन्हें बराबर बचाना चाहिये। याद रखना चाहिये कि गृहस्थी-संचालनमें निपुण, शील और चरित्रवती कर्तव्यपरायणा स्त्री ही वास्तवमें शिक्षिता है, कई भाषाओंको जाननेवाली नहीं।

११—रूपप्रतियोगिताके विचारोंका घोर विरोध करना चाहिये। कम-से-कम भारतीय संस्कृतिकी दृष्टिसे तो यह बहुत ही बुरी बात है। बाजारमें बैठकर रूप बेचनेवाली वेश्याओंसे भी यह व्यवहार नीचा है; क्योंकि यह भले घरोंकी कुलललनाओं द्वारा किया जाता है। हमारी आदरणीया माता और बहिनोंको इसकी बुराइयाँ समझकर इससे दूर रहना चाहिये, इतनी ही नहीं, ऐसे आयोजन इस देशमें न होने पावें, ऐसी भी चेष्टा करनी चाहिये।

१२—जो वास्तवमें सुधार करना चाहते हैं, वे महानुभाव संयम और धीमी चालसे चलनेकी कृपा करें। डालियोंके सुधारके लिये पेड़की जड़ न उखाड़ें। ऐसा उपदेश न करें जिसमें भोगोंकी प्रवृत्ति जोर पकड़े। इन्द्रिय-भोगोंके लिये संतति-निरोधके कृत्रिम उपायोंको काममें लानेकी कभी सलाह न दें। ये उपाय अप्राकृतिक हैं और दोषयुक्त हैं तथा व्यभिचारकी वृद्धिमें बड़े ही सहायक हैं। जनसंख्याकी वृद्धि, बीमारी, दरिद्रता आदि कारणोंसे संतति-निरोधकी आवश्यकता होती है, परंतु उसका भी असली इलाज संयम ही है।

इसी प्रकार सभी विधवा बहनोंको भी भोगोंके अभावमें दुःखोंके चित्र दिखलाकर उनके मनको न बिगाड़े, उन्हें संयमके मार्गसे च्युत न करें। विधवामात्र ही संयमसे नहीं रह सकतीं, ऐसा मानना उचित नहीं है। वातावरणके दोषसे ही विकार उत्पन्न होता है। आज भी सैकड़ों पवित्र विधवाएँ हैं, उनके पवित्र शीलव्रतपालनके आत्मविश्वास और उनकी प्रबल इच्छा-शक्तिको कमजोर न करें।

ऐसे साहित्य और चित्रोंका प्रचार न करें, जिनसे स्त्री-पुरुषोंके विषय-भोगकी प्रवृत्तिको उत्तेजना मिलती हो। (खेद है कि आजकल बहुत-से साहित्यिक और चित्रपट-सम्बन्धी पत्रोंमें युवती स्त्रियोंके छायाचित्र बहुत अधिक मात्रामें छपते हैं, जिनका परिणाम अच्छा नहीं हो रहा है। सम्मान्य सम्पादक महोदयोंकी सेवामें मेरी नम्र प्रार्थना है कि वे एक बार इस विषय-पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें।) फैशनके दोष और सादगीके गुण उनके सामने रक्खें और पाश्चात्य

संस्कृतिके पीछे—आँखें बंद करके वह जानेकी सलाह कृपया कभी न दें।

[यह मेरी हाथ जोड़कर विनम्र प्रार्थना है, आज्ञा नहीं। मुझे इसीमें सच्चा सुधार दीख पड़ता है। ऐसा मेरे दृष्टिकोणके कारण ही हो सकता है। मैं किसीकी नीयत और ईमानदारीपर किसी प्रकारका संदेह या दोषारोपण नहीं करता, नम्रतापूर्वक सबके सामने अपने ये विचार विचारार्थ रखता हूँ। इनमें जो अच्छे मालूम हों उनपर विचार करें, शेष तो मेरे विचार मेरे पास ही रहेंगे। कहीं कटूक्ति आ गयी हो तो क्षमा करें।]

१३—जो सज्जन इन विचारोंको मानते हों उनको चाहिये कि समाचारपत्रों तथा सामाजिक और साहित्यिक मासिक पत्रोंद्वारा इन भावोंका प्रचार करनेकी चेष्टा करें। धर्महीन शिक्षा, यूरोपकी सामाजिक संस्कृति, लड़के-लड़कियोंकी सहशिक्षा, लड़कियोंको अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा, युवतीविवाह, फैशन और विलासिता, वर्तमान चित्रपट, सौन्दर्यप्रतियोगिता, संताननिरोधके कृत्रिम साधन और सुधारके नामपर होनेवाले संहारके दोष नम्रता और प्रेमके साथ युक्तिपूर्ण शब्दोंमें सबके सामने बार-बार रखें और इनके विपरीत गुणोंके युक्तिपूर्ण लाभ बतलावें।

ऐसा होगा तो आपलोग दुराचारके पथपर जाते हुए हमारे समाजके जीवनस्वरूप हमारे हृदयके टुकड़े और हमारी आँखोंके तारे कोमलहृदय लड़के-लड़कियोंको विनाशके भड़कीले पथसे हटाकर सदाचारके सुहावने पथपर ला सकेंगे। इसीमें देश और संस्कृतिका कल्याण है।

[इसमें मैंने जो कुछ लिखा है, किसीका दिल दुखानेके लिये नहीं है। वस्तुस्थिति जैसी कुछ मेरे ध्यानमें आयी, उसीका दिग्दर्शन कराया गया है। इसमें मेरी भूल भी हो सकती है। भूलोंके लिये मैं पहले ही क्षमा चाहता हूँ। वास्तवमें मैं ऐसा अनुभवी और दूरदर्शी मनुष्य नहीं हूँ, जो समाज-सुधारके लिये यथार्थ उपाय बता सकूँ। सम्भव है, मेरा यह निरीक्षण और परीक्षण ही सदोष हो, परंतु मुझे अपने विचारोंमें इस समय कोई संदेह नहीं है।]

सदाचारकी श्रेष्ठता

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्। आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्। त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च॥
तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः। अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः। साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥

(महाभारत, अनुशासन० १०४। ६–९)

'सदाचारसे ही मनुष्यको आयु (दीर्घायु) प्राप्त होती है, सदाचारसे ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचारसे ही इहलोक और परलोकमें भी कीर्तिकी प्राप्ति होती है। दुराचारी मनुष्य, जिससे सब प्राणी डरते और तिरस्कृत होते हैं, इस संसारमें बड़ी आयु नहीं प्राप्त करता। अतः यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है तो उसे इस जगत्में सदाचारका पालन करना चाहिये। पापी मनुष्य भी यदि सदाचारका पालन करे तो वह अपने तन-मनके बुरे संस्कारोंको दबा देता है। सदाचार ही धर्मका लक्षण है। सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी पहचान है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा बर्ताव करते हैं, वही सदाचारका लक्षण है।'

पूर्णानन्द कहाँ है ?

(लेखक—डॉ० श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०)

क्या पूर्ण विशुद्धानन्द मृगमरीचिका है ?

मनुष्य जितना सुख भोगता है, उससे और अधिक भोगना चाहता है । फिर उससे और अधिक, और उससे और अधिक । वह चाहता है—नित्य, अनन्त, विशुद्ध और पूर्ण सुख । मनुष्य ही नहीं, ब्रह्मासे कीट पर्यन्त संसारके सभी जीव, चाहे वे विवेकी हों या अविवेकी, आस्तिक हों या नास्तिक, सदाचारी हों या दुराचारी, जाने या अनजाने विशुद्ध, पूर्णानन्दकी खोजमें सदा संलग्न हैं । पर उनकी पूर्णानन्दकी साध कभी मिटती नहीं । विशुद्ध पूर्णानन्दके स्थानपर उन्हें क्षणिक सुख ही मिलता है, जिसका पर्यवसान दुःखमें होता है । तो क्या विशुद्ध पूर्णानन्द एक मृगमरीचिका ही है ?

यदि पूर्णानन्द मृगमरीचिका होता तो उसे पा लेनेकी अनन्त स्पृहा हमारे भीतर न होती । भगवान्‌ने हमें जो भी प्रवृत्ति दी है, उसके लिये उपयुक्त विषय-वस्तुकी व्यवस्था भी की है । भूख दी है तो खाद्य सामग्रीकी व्यवस्था की है, प्यास दी है तो जलकी व्यवस्था की है, जीवित रहनेकी अमिट चाह दी है तो आत्माके अमरत्वकी व्यवस्था की है । जिस प्रकार भूख और प्यास खान-पानकी वस्तुओंकी वास्तविकताका संकेत है, और अनन्त जीवनकी चाह आत्माके अमरत्वकी वास्तविकताका संकेत है, उसी प्रकार पूर्णानन्दकी अमिट चाह पूर्णानन्दकी वास्तविकताका संकेत है ।

पूर्णानन्द मृगमरीचिका लगता है, केवल इसलिये कि हम उसे खोजते ही हैं—उस दिशामें, जहाँ वह नहीं है । कहीं सांसारिक विषयोंकी शुष्क बालुकाको बार-बार बिलोनेसे अमृत-स्रावकी आशा की जा सकती है ? श्रुति कहती है, अल्पमें सुख नहीं है । सुख भूमामें ही है । भूमा वह है, जिसे देखकर और कुछ देखना अवशिष्ट नहीं रहता, जिसे सुनकर और कुछ सुनना शेष नहीं रहता और जिसे जानकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता । जिसे देख, सुन या जानकर और कुछ देखना, सुनना या जानना बाकी रह जाता है, वही अल्प है । जो भूमा है, वही अमृत है, जो अल्प है, वही चिरतप्त संसार मरुमरीचिका है—

'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् । यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमा । अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम् । अथ यो वै भूमा तदमृतम् । अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

(छान्दो० ७ । २३ । २४)

जो भूमा है, वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म है, वही आनन्द है । आनन्द ब्रह्म है—

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।' (तैत्तिरीय० उ० ३ । ६ । १)

आनन्द-स्वरूप ब्रह्मसे ही सब जीवोंकी उत्पत्ति है, आनन्दके द्वारा ही वे जीवन धारण करते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं—

'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।' (तैत्तिरीय० उ० ३ । ६ । १)

पर जिस आनन्दको लेकर सांसारिक जीव जीवन धारण करते हैं, वह उस आनन्दका एक कण या आभासमात्र है—

'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।'

(बृ० आ० उ० ४ । ३ । ३२)

जिस आनन्दके एक अंश या आभासमात्रसे जगत् विमुग्ध है, उसका पूर्ण और विशुद्ध रूप कैसा होगा, उसकी क्या कोई कल्पना कर सकता है ?

आनन्द-ब्रह्म और रस-ब्रह्म

वह पूर्ण, विशुद्ध आनन्द कैसे प्राप्त हो, इस प्रश्नका उत्तर श्रुतिमें इस प्रकार है—

'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।
(तैत्तिरीय० २ । ७ । १)

—निश्चय ही वह 'रस-स्वरूप है । रस (भगवान्) को प्राप्त करके ही यह (जीव) पूर्णरूपसे आनन्दयुक्त हो सकता है ।'

रस-स्वरूपब्रह्म ही उस आनन्द-ब्रह्मका मूल है, जो जगत्की उत्पत्ति और स्थितिका कारण है । रस है आनन्दका घनीभूत भाव, आनन्द है रसका निर्विशेष भाव । रसस्वरूप ब्रह्म सविशेष और सशक्तिक है । निर्विशेष आनन्द-ब्रह्म सविशेष रसका प्रकाश है, उसी प्रकार जिस प्रकार निर्विशेष, अमूर्त गन्ध मूर्त धूपका प्रकाश है या निर्विशेष चाँदनी सविशेष चन्द्रमाका प्रकाश है । इसीलिये श्रीकृष्णने इसे आनन्दरूप निर्विशेष ब्रह्मकी प्रतिष्ठा कहा है—**'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् ।'** जो केवल ह्लादात्मा अर्थात् केवल आनन्दरूप है, वह है निर्विशेष आनन्द-ब्रह्म । पर जो आनन्दस्वरूप होते हुए भी आनन्दका आस्वादन करते हैं और कराते हैं, वे हैं आनन्द-ब्रह्मकी प्रतिष्ठास्वरूप पूर्ण रस-ब्रह्म या रसका मूर्तस्वरूप, रसराज श्रीकृष्ण ।

रस-स्वरूप ब्रह्म स्वयं रस है और रसका आस्वादक या रसिक भी । निर्विशेष ब्रह्म रसरूप है, पर रसिक नहीं; क्योंकि उसमें शक्तिका विकास नहीं है । परमात्मा भी रसरूप है पर रसिक नहीं; क्योंकि उसमें भी शक्तिका आंशिक विकास ही है और वह साक्षी या द्रष्टामात्र है । राम, नृसिंहादि जितने भी भगवत्-स्वरूप हैं, उनमें शक्तिका विभिन्नरूपसे विकास है, इसलिये वे रसिक भी हैं । इसी प्रकार श्रीकृष्ण अखिल रसामृत-मूर्ति हैं; रसिकशेखर हैं ।

ह्लादिनीकी आनन्द-धारा

जिस आनन्दिनी शक्तिद्वारा भगवान् निज स्वरूपानन्दका आस्वादन करते हैं और भक्तोंको आस्वादन कराते हैं, उसका नाम है ह्लादिनी शक्ति । ह्लादिनी शक्ति आनन्दकी विभिन्न धाराओंका मूल है । यही श्रीकृष्णके नित्य रास-विलासका एकमात्र कारण है । ह्लादिनी शक्ति ही प्रकाशित है भगवान्में भगवतानन्द रूपमें, और विश्वमें प्राकृत आनन्दके रूपमें । गोमुखीसे निकली शैलप्रवाहिनी गङ्गा जिस प्रकार स्वच्छ, सुनिर्मल और समुज्ज्वल होते हुए भी भूखण्डमें आकर वहाँकी मिट्टीके सम्मिश्रणसे मैली हो जाती है, उसी प्रकार ह्लादिनी शक्तिकी स्वच्छ, समुज्ज्वल, शाश्वत आनन्दधारा प्राकृत प्रदेशमें उतरते ही त्रिगुणात्मिका मायाके संस्पर्शसे कुत्सित और क्षणभङ्गुर प्राकृत आनन्दका रूप धारण कर लेती है ।

ह्लादिनीकी आनन्दधारा चिन्मय-धाम या विरजा-तक स्वच्छ और सुनिर्मल रहती है । गोलोकसे वैकुण्ठ-तक वह सविशेष और सक्रियरूपमें प्रवाहित होती है और उसके नीचे सिद्धलोक या महेशधामतक निर्विशेष और निष्क्रिय रूपमें प्रवाहित होती है । उसके भी नीचे विरजाके पार देवीधाम या प्राकृत जगत्में वह दुःख-मिश्रित, क्षणभङ्गुर प्राकृत आनन्दके रूपमें प्रवाहित होती है । यह प्राकृत आनन्द कायास्थानीय अप्राकृत आनन्दकी छायामात्र है । पर छाया होते हुए भी यह अप्राकृत आनन्दसे सर्वथा भिन्न नहीं है । यह उसका आभासमात्र है । यह अल्प, परिच्छिन्न, क्षणिक और मायामिश्रित होनेके कारण दुःखमय है, जब कि अप्राकृत आनन्द भूमा, स्थायी, अमायिक और विशुद्ध सुखमय है । सृष्टिके मूलमें यदि ह्लादिनीके रूपमें रसका उत्स झरना और श्रीकृष्णका रास-विलास न होता या क्षणभरके लिये भी किसी प्रकार उसका विच्छेद घटता तो न तो आनन्द-ब्रह्मकी सत्ता सम्भव होती, न किसी प्रकारका

प्राकृत आनन्द ही सम्भव होता । जिस प्रकार कायाके अभावमें छाया लुप्त हो जाती है, उसी प्रकार संसार और संसारके सभी सुख, जो परमानन्दकी छाया या उसके आभासमात्रपर अवलम्बित हैं, एक मुहूर्त्तमें विलीन हो जाते हैं ।

रस और भाव

रसका भावसे अनिवार्य सम्बन्ध है । भाव बिना रस नहीं, रस बिना भाव नहीं—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः ।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ॥
(नाट्यशास्त्र)

आनन्दका विषय उपस्थित रहनेपर भी भावकी अनुपस्थितिमें उससे आनन्दकी उपलब्धि सम्भव नहीं है । रत्नकी पेटिका पास रहनेपर भी, जिस प्रकार उसकी चाबीके बिना रत्नोंका उपयोग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार आनन्दका विषय पास होनेपर भी भावरूपी चाबीके अभावमें उसके आनन्दका उपभोग नहीं हो सकता । आनन्दके आश्रयसे जब भाव उच्छ्वसित होकर विषयसे संयुक्त होता है, तभी विषय रसताको प्राप्त होकर आश्रयको आनन्दित करता है । भाव या प्रियताकी भिन्नताके कारण ही एक ही विषयसे विभिन्न जातिके आनन्दकी उपलब्धि होती है । जिस जातिका भाव होता है; वह उसी जातिके विषयसे संयुक्त होकर उसमें उसी जातिकी रसता उत्पन्न करता है और उसे उस जातिके आनन्दका विषय बनाता है । एक जातिका भाव दूसरी जातिके विषयको रसता प्रदान नहीं कर सकता । शूकरका जिस जाति (प्रकार) का भाव या रुचि है, वह उसी जातिके विषयसे सुख-लाभ करता है और मनुष्यका जिस जातिका भाव या रुचि है, वह उसी प्रकारके विषयसे आनन्द-लाभ करता है ।

जिस प्रकार संगीत-प्रेम या संगीत-भक्तिद्वारा संगीत रसताको प्राप्त होता है, नृत्य-भक्तिद्वारा नृत्य रसताको प्राप्त होकर नृत्य-भक्तको आनन्दित करता है, काव्य-भक्तिद्वारा काव्य रसताको प्राप्त होकर कविता-प्रेमीको आनन्दित करता है, विद्या-भक्तिद्वारा विद्या रसताको प्राप्त होकर विद्या-प्रेमीको आनन्दित करती है, उसी प्रकार भगवद्भक्तिद्वारा रसताको प्राप्त होकर भगवान् भक्तको आनन्दित करते हैं । इसलिये भगवान्ने स्वयं कहा है—**'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'**—मैं एकमात्र भक्तिसे ग्राह्य—भक्तिके वशमें हूँ । अन्य किसी प्रकारसे मेरा वशीकरण सम्भव नहीं है ।'

भक्तिसे केवल भक्त ही आनन्दित नहीं होते, भगवान् भी आनन्दित होते हैं । भगवान् आनन्दमय हैं, पर जो आनन्द उन्हें भक्तिसे प्राप्त होता है, वह अपने स्वरूपसे नहीं होता । जैसे स्वातिकी बूँदें सीपमें पड़कर झिलमिलाते मोतियोंका रूप धारण कर लेती हैं, जैसे बाँसुरी बजानेवालेकी अपनी ही फुत्कार बाँसुरीके छिद्रोंमेंसे निकलकर ऐसे मधुर स्वरोंका रूप धारण कर लेती है कि बाँसुरी बजानेवाला स्वयं उनसे मोहित हो जाता है, वैसे ही भगवान्की ह्लादिनी शक्ति भक्तके हृदयमें प्रवेश करते ही ऐसा रूप धारण कर लेती है कि स्वयं भगवान् उससे मोहित हुए बिना नहीं रहते । गौके सर्वाङ्गमें दूध व्यापकरूपसे रहता है, परंतु उससे गौकी तुष्टि तभी होती है, जब उसका दोहनकर उसे पिलाया जाता है । बरफके पहाड़से नदी निकलती है, पर बरफमें प्यास बुझानेकी वह शक्ति नहीं होती, जो नदीके पानीमें होती है । कथा है कि बरफके पहाड़को प्यास लगी, तब वह उतरकर मैदानमें आया और नदीसे जलकी प्रार्थना की । नदीने कहा—'प्रभु ! आप ही तो हैं मेरे जलके स्रोत ! मैं आपको जल क्या दूँ ?' पहाड़ने कहा—'नहीं, मेरी प्यास तुम्हीं बुझा सकती हो । ऊँचाईपर शीतके कारण मेरा जल जमा हुआ है, घनीभूत है, तुम्हारा जल भूमिके तापके कारण

तरल है, तरंगायित है। तुम्हारी तरंगोंको आनन्दसे नाचते देख मुझे लोभ होता है।' रसके पहाड़रूपी भगवान्का घनीभूत रस भक्तके हृदयके (विरह-) तापसे तरंगायित होकर उन्हें अधिक आनन्द प्रदान करता है। इसीलिये तो भगवान् भक्तिके वशमें सदा रहते हैं—

'भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति।'

(गोपालता० उप०)

कृष्ण और राधा

भक्तिके वशमें होनेके कारण भगवान् भक्तिके प्रेम-पाशमें स्वेच्छापूर्वक उस प्रकार आबद्ध हो जाते हैं, जिस प्रकार भौंरा मकरन्दके लोभसे कमलमें आबद्ध हो जाता है। इसीलिये वे रसके मूलस्रोतके रूपमें भाव और भक्तिके मूलस्रोतसे सदा आलिङ्गित हैं, परिरम्भित हैं। रसका मूल और उसकी घनीभूत मूर्ति हैं श्रीकृष्ण, भावका मूल और उसकी घनीभूत मूर्ति हैं श्रीराधा।

रसकी मर्यादा होती है रसकी तृष्णासे। जलकी जितनी तृष्णा होती है उतना ही जल पेय और आस्वाद्य होता है। इसी प्रकारसे रसकी जितनी तृष्णा होती है, उतना ही रस आनन्ददायक होता है। रसकी तृष्णाके तारतम्यसे ही है रसके आस्वादनका तारतम्य। रस तृष्णाकी चरम अवस्था है राधाका कृष्ण-प्रेम। रस-तृष्णा अपनी चरम अवस्थामें घनीभूत होकर एक रूप परिग्रह करती है। वह रूप ही है राधाका अपना रूप।

श्रीकृष्ण हैं रसका मूल विषय, राधा हैं रसका मूल आश्रय। जिस प्रकार अवतारी कृष्णमें सभी अवतार सम्मिलित हैं, उसी प्रकार कृष्ण-तृष्णाके सभी प्रकार अपनी चरम सीमाको प्राप्त होकर राधामें सम्मिलित हैं। जिस प्रकार रसराज श्रीकृष्ण समस्त प्रकारके रसोंके आधार हैं, उसी प्रकार महाभावस्वरूपिणी राधा समस्त प्रकारके भक्ति-भावोंकी आधार हैं। अमूर्तरूपमें वे ही दास्य, सख्यादि विभिन्न प्रकारके भावोंमें प्रकट होकर भक्तोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके रसोंका आस्वादन कराती हैं। मूर्तरूपमें वे अपनी ही काय-व्यूहरूपा सखी-मंजरियोंके रूपमें प्रकट होकर नाना प्रकारकी मधुर लीलाओंद्वारा श्रीकृष्णको रसास्वादन कराती हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भी उस रसास्वादनके लिये लालायित रहते हैं। आनन्द-स्वरूप, आप्तकाम, आत्माराम होते हुए भी वे व्रज-सुन्दरियोंके साथ रास-विलासादिका संकल्प करनेके लिये सदा बाध्य हैं।

श्रीकृष्ण हैं—पूर्ण शक्तिमान्, राधा हैं—पूर्ण शक्ति। पूर्णशक्ति पूर्ण शक्तिमान्में अमूर्त और अभिन्नरूपसे नित्य वर्तमान रहती हैं। पर लीलाके हेतु शक्तिकी अधिष्ठात्रीके रूपमें भिन्न और मूर्तरूपसे प्रकट रहकर भी अनन्त, अचिन्त्य लीलाओंका सम्पादन कर शक्तिमान्-को आनन्दित करती हैं। अमूर्त और निष्क्रिय ह्लादिनी शक्तिद्वारा आलम्बित श्रीकृष्ण केवल 'ह्लादात्मा' या आनन्दरूप हैं, समूर्त ह्लादिनी शक्तिद्वारा आलिङ्गित श्रीकृष्ण आनन्दरूप तो हैं ही, आनन्दके आस्वादक और वितरक भी हैं। मूर्त ह्लादिनी शक्तिद्वारा आलिङ्गित श्रीकृष्ण आनन्द और माधुर्यकी चरम सीमाको प्राप्त हैं। राधाके साथ श्रीकृष्ण ही वह परात्पर पूर्ण तत्त्व हैं जिनके सांनिध्यको प्राप्त कर जीव पूर्णानन्दको प्राप्त कर लेता है। यहीं पूर्णानन्द है।

मनोज्ञ मनोरथ

कदम-कुंज ह्वैहौं कबै, श्रीवृन्दावन माहिं।
ललितकिसोरी लाड़िले, विहरैंगे तिहिं छाहिं॥
कब हौं सेवा-कुंजमें, ह्वैहौं श्याम तमाल।
लतिका कर गहि बिरमिहैं, ललित लड़ैती लाल॥

—श्रीललितकिशोरी

मानसमें 'मंगल भवन अमंगल हारी' की पुनरुक्ति क्यों ?

(लेखक—पं० श्रीउपेन्द्रनाथजी मिश्र, 'मञ्जुल')

श्रीमद्रामचरितमानस बालकाण्ड नाम-वन्दनामें १० वें दोहेकी प्रथम चौपाई है—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥
मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥

इसी काण्डके उमाशंकर-संवादके क्रममें दोहा १११ की दूसरी चौपाई है—

बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥
मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

रेखाङ्कित अर्धालीका पुनर्वार प्रयोग हुआ है। प्रश्न होता है कि श्रीगोस्वामीजी-जैसे मूर्धन्य महाकविके 'लोकवन्द्य' 'दोषरहित' महाकाव्यमें ऐसी 'पुनरुक्ति' क्यों ? 'कवि उर अजिर नचावहिं बानी'के वर-प्राप्त और श्रीरामरूप-लीला-धामके गुण-गायक शब्द-शिल्पी मानस-कवि श्रीगोस्वामीजीने भगवान् श्रीरामके नाम-रूप-लीला-धाम और भक्ति, भक्त (संत), भगवन्त और गुरुको, जो तत्त्वतः अभिन्न माने गये हैं, ध्यानमें रखकर ही यथास्थल 'मंगल भवन', 'मंगलायतन' 'मंगलमूल', 'मंगलमय' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। शब्दशास्त्रियों और काव्य-मर्मज्ञोंके मतमें गुण-प्रकर्ष-प्रकथनमें पुनरुक्त्यादि दोष नगण्य माना गया है। सच तो यह है कि भगवान् श्रीरामके नाम, रूपादि सभी मंगल-भवन, मंगलायतन, मंगलमूल और मंगलकर हैं। इनमें 'नाम' एवं 'रूप'को सर्वथा अपृथक् मानते हुए श्रीमानसकारने दोनों ही जगह 'मंगल भवन' और 'अमंगलहारी' कहकर स्तुति की है। दोनों ही (नाम और रूप) मंगलालय और अमंगल-हर्त्ता हैं। 'मंगल भवन' कहकर फिर 'अमंगलहारी' कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रभु केवल मंगलागार ही नहीं, भक्तों—शरणागतोंके अमंगलहारी भी हैं—सर्वतः अभयकारी भी हैं। जैसे किसीके पास प्रचुर धनराशि हो पर उससे किसीकी दरिद्रता-दीनता दूर न होती हो तो किस कामकी ? शोभा तो उसकी आश्रितोंकी दीनता दूर करनेमें ही है। भगवन्नाम और भगवद्रूपके इसी प्रभावविशेषको प्रकटित करनेके लिये कविने मंगल भवन और अमंगलहारी कहा है; यथा—

नामके सन्दर्भमें देखिये—

मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥
जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥
भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

इसी प्रकार रूप-वर्णनमें द्रष्टव्य है।

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

मंजुल मंगल मूल राम बाहु फरकन लगे।
सोहत मोर मनोहर माथे।
मंगलमय मुकुतामनि माथे।
पूजे बर दुलहिन मंगल निधि।
तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन राम जस।
मंगल मूल राम सुत जाए।
जबते राम ब्याहि घर आए।
नित नव मंगल मोद बधाए॥

इसी प्रकार लीला और धामके सम्बन्धमें भी गोस्वामीजीकी उक्तियाँ 'मंगल'की विशेषताके लिये हैं।

लीला-प्रसङ्गमें देखिये—

जग मंगल गुन ग्राम राम के। ....
राम कथा जग मंगल करनी। ....
सो उमेस मोपर अनुकूला। करहिं कथा मुद मंगल मूला॥

यहाँ विशेषता यह है कि जहाँ श्रीराम स्वयं मंगल भवन, मंगलकर और अमंगल हारी हैं, वहाँ उनका चरित्र (ललित लीला) निखिल जगन्मंगल-कारी है—

धामके प्रसंगमें देखिये—

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी॥

'मंगल मय मंदिर सब केरे'

भक्तिके प्रसंगमें देखिये—

भगति सुतिय कलकरन बिभूषन।जग हित हेतु बिमल बिधुपूषन॥

भक्त (संत) समाज—

मुद मंगलमय संत समाजू,

संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल।

परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥

श्रीगुरुपदरज—

सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥

इस प्रकार सर्वलोकाभिराम श्रीराम और उनसे अभिन्न उनके नाम-रूप-लीलादिको भी मङ्गलमय और मङ्गलकर कहा गया है। मङ्गलाचरण-प्रसङ्गमें 'मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ'से वाणी (सरस्वती) और विनायक (श्रीगणेशजी) मंगलकर्त्ता (मंगलविधायक)के रूपमें संस्तुत हुए हैं। वाणी (भगवद्वाणी-स्वरूप श्रुति) या सरस्वती (जिसकी प्रतिमा—उपमा या तुलना नहीं है और जिसका नाम बहुत बड़ा प्रभावकारी है—उस)का उद्घोष कर—'न तस्य प्रतिमा अस्ति, यस्य नाम महद्यशः' जहाँ जगन्मङ्गल करती हैं, वहाँ—'नाम प्रभाउ जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥' से नाम-जप-सिद्ध विनायक श्रीगणेशजी भी सर्वविघ्नदलनकर विश्वमङ्गलके विधायकके रूपमें प्रतिपादित हैं। अतः वाणी और विनायकको मङ्गलकर्त्ता कहा है।

मानसमें उपर्युक्त नाम-रूप-लीला-धामादिको भगवदभिन्न मानकर ही मानसकविने सबको यथा-स्थल मङ्गल-भवन और मङ्गल-मूल आदि शब्दोंसे अभिहित कर उनकी प्रकर्षता प्रदर्शित की है। इसलिये उक्त स्थलोंमें वे पुनरुक्त दोष न होकर गुण हो गये हैं। वस्तुतः ये दोनों विशेषण नाम-रूपके नित्य विशेषण हैं जो यथावसर सर्वत्र विद्यमान हैं। फलतः उभय स्थलोंपर उनकी संयोजना सटीक है।

रामचरितमानस अनन्त ज्ञानका भण्डार

एक बार गाँधीजीको उनके मित्रोंने लिखा कि 'रामचरितमानसमें स्त्री-जातिकी निन्दा है, बालि-वध, विभीषणके देश-द्रोह, जाति-द्रोहकी प्रशंसा है। काव्यचातुर्य भी उसमें कोई नहीं, फिर भी आप उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ क्यों मानते हैं?'

इसके उत्तरमें उन्होंने लिखा था—"यदि आपलोग-जैसे कुछ और अधिक समीक्षक मिल सकें तो फिर कहना पड़ेगा कि सारी रामायण केवल 'दोषोंका पिटारा' है। इसपर मुझे एक बात याद आती है। एक चित्रकारने अपने समीक्षकोंको उत्तर देनेके लिये एक बड़े सुन्दर चित्रको प्रदर्शिनीमें रखा और उसके नीचे लिख दिया—'इस चित्रमें जिसको जहाँ कहीं भूल या दोष दिखायी दे, वह उस जगह अपनी कलमसे चिह्न कर दे।' परिणाम यह हुआ कि चित्रके अङ्ग-प्रत्यङ्ग चिह्नोंसे भर गये। परंतु वस्तुस्थिति यह थी कि वह चित्र अत्यन्त कलायुक्त था। ठीक यही दशा रामायणकी आपलोगोंने की है। ऐसे तो वेद, बाइबिल और कुरानके आलोचकोंका भी अभाव नहीं है। पर जो गुणदर्शी हैं, उनमें दोषोंका अनुभव नहीं करते। मैं रामचरितमानसको सर्वोत्तम इसलिये ही नहीं कहता कि उसमें कोई एक भी दोष नहीं निकाल सकता, पर इसलिये भी कि उससे करोड़ों मनुष्योंको शान्ति मिली है। और यह बात इस ग्रन्थके लिये दावेके साथ कही जा सकती है।'

वस्तुतः 'मानस'का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति, ज्ञान और उदात्त चारित्रिक गुणोंकी महिमासे भरपूर है। वह अनुभवजन्य ज्ञानका भंडार है।

गीताका कर्मयोग

[श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायकी व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क—३, पृष्ठ ७२से आगे)

कर्मयोगीके सिद्धान्त

कर्मयोगके अनुसार कोई भी सामग्री अपनी नहीं होती। कर्म भी अपने लिये नहीं होता। कर्मयोगमें कामना-ममता-फलेच्छाका त्याग कर्म करते हुए ही होता है। एक व्यक्ति भोगासक्तिपूर्वक कर्म करता है, उसका कर्तृत्वाभिमान कभी नहीं मिट सकता; क्योंकि भोक्तृत्व कर्तृत्वके साथ रहता ही है। दूसरा व्यक्ति है, जो केवल आसक्ति, राग मिटानेके लिये ही कर्म करता है। यह अपने लिये कुछ नहीं करता और कुछ नहीं चाहता। इसका कर्तृत्वाभिमान मिट जाता है। अतः अन्य सभी साधनोंसे कर्मयोग सुगम है; क्योंकि यह काम करते-करते भगवत्प्राप्ति करा देता है।

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके विषय हमें अच्छे लगते हैं—इसका तात्पर्य यही है कि इनके द्वारा हमें जो कुछ अच्छा लगता है, उससे दूसरोंकी सेवा करनी है, भोग नहीं भोगना है। मनुष्य-शरीर भोग भोगनेके लिये है ही नहीं—

'एहि तन कर फल बिषय न भाई।' (मानस ७।४३।१)

कर्मयोगमें व्यक्ति, पदार्थ, क्रियासे सम्बन्ध रहते हुए भी इनमें प्रियता न रहनेसे वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं रहता; क्योंकि वह प्रियतावाली वस्तुसे (बिना कुछ चाहे) दूसरोंकी सेवा करता है। दूसरोंको सुखी देखनेसे अपनी प्रियता (सुखभोग-बुद्धि) नष्ट होती है, यह सभीके अनुभवकी बात है। सेवाका भाव प्रबल होनेपर वह अधिक तेजीसे सेवा करता है, इससे उसके अन्तःकरणमें प्रसन्नता बढ़ती है और सेव्यकी प्रसन्नता होनेपर सेवा करनेकी अभिरुचि भी विशेषरूपसे बढ़ती है। अन्तःकरणकी उस प्रसन्नताका भी वह उपभोग नहीं करता; क्योंकि यह मार्ग ही त्यागका है। उस प्रसन्नताका तात्पर्य भी कर्तव्य-कर्ममें तत्परता और उत्साह लाना है। कर्मयोगीको सदैव जागृति रखनी चाहिये कि मुझ स्वयंको तो सुख लेना ही नहीं है।

सेवामें एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि साधकके शरीर, इन्द्रियाँ, वाणी और मनके द्वारा कभी किंचिन्मात्र भी किसीका अहित न हो। दूसरेका अहित न करनेवाली वृत्तिसे निवृत्ति आती है एवं सेवाकी वृत्तिसे सेवामें प्रवृत्ति बढ़ती है। प्रवृत्ति (जाग्रत, स्वप्न) और निवृत्ति (सुषुप्ति, समाधि, प्रलय, महाप्रलय)—दोनोंकी अवस्थाएँ तो परस्पर सापेक्ष हैं, किंतु तत्त्व (साध्य) निरपेक्ष है; क्योंकि प्रवृत्तिमें कार्य (सक्रिय) रूपसे एवं निवृत्तिमें कारण (निष्क्रिय) रूपसे अहंकार रहता है, किंतु साध्यमें अहंकार नहीं होता। कर्मयोगी प्रवृत्तिसे सबको सुख पहुँचाता है एवं किसीका अहित नहीं करता। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति एक दूसरेको पुष्ट करती है। कर्मयोगकी सही प्रवृत्तिसे सहज निवृत्ति जागृत होती है और सहज निवृत्तिसे सही प्रवृत्ति (किसीका अहित न करना) पुष्ट होती है। जिस प्रवृत्तिमें वासना, कामना, आसक्ति न हो, उस प्रवृत्तिसे निवृत्ति पैदा होती है; क्योंकि ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं है, जिसका अन्त निवृत्तिमें न होता हो। प्रवृत्ति उत्पन्न होती है और समाप्त होती है तथा फलासक्तिके कारण पुनः

उत्पन्न होती है। निवृत्ति वासनारहित होती है। यदि कुछ भी वासना रहेगी तो निवृत्ति भी प्रवृत्ति पैदा करेगी। निवृत्तिसे कल्याण तभी होता है, जब उसमें किंचिन्मात्र भी वासना न हो और वह निवृत्ति सहज हो। इसी प्रकार यदि प्रवृत्ति भी स्वाभाविक हो, किसी कामना-वासनाको लेकर न हो, तो वह प्रवृत्ति भी निवृत्तिमें विलीन हो जाती है। वासना, कामना, और आसक्तिके कारण ही निवृत्तिसे प्रवृत्ति पैदा होती है, परंतु कर्मयोगी कामनाका त्याग करके (अपना सुख न चाहकर) दूसरोंका हित चाहता है, उनकी सेवा करता है और उन्हें सुख पहुँचाता है। अतः वह प्रवृत्ति-निवृत्तिके झंझटसे ऊँचा उठ जाता है। वासना रहनेके कारण मनुष्यको प्रवृत्तिमें निवृत्तिका चिन्तन (कामका झंझट है, न करूँ तो अच्छा) एवं निवृत्ति-में प्रवृत्तिका चिन्तन (काम करना तो अच्छा था या होगा) होता है। अन्तःकरणमें वासना रहनेके कारण ही साधक प्रवृत्तिको दोष देता है और निवृत्ति-की इच्छा करता है। कर्मयोगका आचरण वासनाको नष्ट करके तत्त्व-प्राप्ति (का अनुभव) करा देता है।

प्रवृत्तिका मुख्य कारण 'राग' ही है, अतः रागको मिटाना प्रत्येक साधकका मुख्य कर्तव्य है। राग न मिटनेसे मरनेके बाद भी संसारके साथ सम्बन्ध बना रहता है—ऐसा हिन्दू-संस्कृति मानती है। यही कारण है कि हिन्दुओंमें मृत व्यक्तिके लिये श्राद्ध-तर्पण आदि कर्म किये जाते हैं। मरनेके बाद भी हड्डियाँ गङ्गाजीमें डालनेसे उस प्राणीकी सद्गति होती है, यह सम्बन्ध (शरीरमें ममता) रखनेका ही कारण है। इस रागको मिटानेमें कर्मयोगका साधन सभीके लिये सुगम पड़ता है; क्योंकि कर्मयोग त्यागका मार्ग है। भक्ति-मार्गमें 'तत्सुखे सुखित्वम्' (भगवान्‌के सुखसे सुखी होना) सबसे ऊँचा सिद्धान्त माना जाता है। उस सिद्धान्तका पालन कर्मयोगी प्रारम्भसे ही करता है। वह अपने कहलानेवाले शरीरादि पदार्थोंसे सबको सुख पहुँचाता है, बदलेमें कभी कुछ भी नहीं चाहता। केवल इतना ही नहीं, अनुकूल परिस्थितिकी प्राप्तिमें भी वह उसमें प्रसन्न नहीं होता; क्योंकि वह मानता है कि यह मेरा उद्देश्य नहीं है, मेरा उद्देश्य तो कर्तव्य-पालन (आत्मकल्याण)-मात्र है। केवल सांसारिक अनुकूलताकी तो बात ही क्या है, दूसरोंको सुख पहुँचानेसे जो 'प्रसाद'-रूप प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसे भी वह पुनः तत्परता और उत्साहसे सेवामें ही लगा देता है अर्थात् उसका भी वह त्याग कर देता है। कर्मयोगीका यह भाव रहता है कि अनुकूल परिस्थितिसे तो पशु-पक्षी, वृक्ष-पौधे भी प्रसन्न होते हैं एवं प्रारब्धानुसार ये परिस्थितियाँ तो आती-जाती रहती हैं, फिर मेरे इस अनुकूल परिस्थितिसे प्रसन्न होनेका क्या प्रयोजन ? इस प्रकारके त्यागसे राग कहीं रहता ही नहीं है।

कर्मयोगमें कामनाका त्याग मुख्य है। केवल स्वर्गादि लोकोंकी इच्छा करना ही कामना नहीं है, अपितु इस संसारमें सुख, आराम, मान, बड़ाई आदि-की इच्छा करना भी कामना ही है। 'हमारी मनचाही हो'—यह कामनाका स्वरूप है। कामना ही मुख्य बन्धन है। इसीसे भगवान् तीसरे अध्याय (जो कर्मयोग-का अध्याय है) के प्रारम्भमें 'कर्तव्य-कर्मोंको अवश्य करना चाहिये'—यह कहकर अन्तमें कामनाके विषय-में वर्णन करते हुए उसका नाश करनेकी आज्ञा देते हैं। कर्मयोगीका उद्देश्य 'हमें सुख लेना ही नहीं है, हमें तो सुख दूसरोंको देना है' यही होता है। अपने इसी उद्देश्यके अनुसार कर्तव्यकर्मोंको करते हुए वह सुगमतापूर्वक कामनापर विजय प्राप्त कर लेता है।

स्थूलशरीरमें पदार्थ और क्रियाओंसे सुख होता है, सूक्ष्मशरीरमें चिन्तनसे सुख होता है और कारणशरीरमें

स्वभावके अनुकूल होनेसे तथा समाधिके होनेसे सुख होता है। सुख भोगनेसे शरीरमें 'अहंभाव' दृढ़ होता है। स्थूलशरीरमें 'संयोग'से प्रसन्न होना सुखभोग है और सूक्ष्मशरीरमें 'चिन्तन'से प्रसन्न होना सुखभोग है। स्थूलशरीरमें जाग्रत्-अवस्थामें सुख होता है और सूक्ष्म-शरीरमें स्वप्नावस्थामें सुख होता है। जाग्रत और स्वप्नके सुखकी तो बात ही क्या है, साधकको समाधि-के सुखसे भी निर्लेप रहना है। अतः स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीरोंसे कोई सुख नहीं लेना है। दूसरोंको सुख पहुँचाना तो ठीक है, किंतु स्वयं सुख लेना ठीक नहीं। गीतामें भगवान् कर्मयोगीके लिये कहते हैं—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥ (६। ३)

'योगमें आरूढ़ होनेके लिये कर्मयोगी निष्कामभावसे कर्म करता है। उससे उसे शान्ति प्राप्त होती है, पर वह उसमें भी रस (सुख) नहीं लेता। यद्यपि वह शान्ति परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें कारण है, तथापि उस शान्तिका सुख लेनेसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधा पड़ती है। अतः योगी आसक्ति-रहित होकर कर्म करता है। क्रिया, पदार्थ, चिन्तन और स्थिरतासे जो सुख होता है, वह सुख (या फल) नाशवान् होता है; अतः ग्राह्य नहीं है। सुख न लेनेसे सङ्ग छूट जाता है और सङ्ग (आसक्ति) छूटते ही मुक्तिका अनुभव हो जाता है।'

(क्रमशः)

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयात्

(सत्यका विवेचन)

सच और प्रिय बोलना चाहिये। किंतु अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये—'न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।' इसी प्रकार असत्य प्रिय नहीं बोलना चाहिये। साधारणतया सत्य बोलनेकी धर्मशास्त्रीय व्यवस्था यही है। अतः इस नियमके पालनके लिये हित, मित वचन बोलना अथवा अधिकतर मौनावलम्बन लेना उचित होता है। यदि हम माता गीता (१७। १५) का उपदेश मानकर वाङ्मयी तपस्यामें लग जायँ तो हमारा ऋत-सत्यका व्रत सुतराम् परिपालित हो जाय। इसके लिये आवश्यक होगा कि हम उद्वेग करनेवाले वचन न बोलें। सत्य, प्रिय, हित वचन बोलें और वेद-शास्त्रों (सद्ग्रन्थों) का अध्ययनाभ्यास करें। इस वाङ्मयी तपस्यासे हमें वाक्-सिद्धि मिल सकती है, अपना कल्याण सध सकता है।

सत्य हरिश्चन्द्र, 'रामोद्विर्नाभिभाषते' वाले श्रीराम, उत्तराके गर्भकी अलौकिक ढंगसे रक्षा करनेवाले श्रीकृष्ण, असत्यवादसे उद्विग्न होनेवाले राजा बलि प्रभृति सत्यवादी, यद्यपि आज नहीं हैं, पर उनकी सत्यवादिताकी सुकीर्ति सर्वथा चिर सुरक्षित है।

सत्यकी महिमा अनन्त है—सत्यसे ही पृथिवी टिकी हुई है। ऋक् श्रुति (१०। ४५। १) कहती है—'सत्येनोत्तमिता भूमिः।' वेदव्यासके अनुसार जिन सात तत्त्वोंपर पृथ्वी धारित है उनमें गाय, विप्र, वेद (शास्त्र) अलोभी, दानशीलके साथ ही सत्यवादी भी अन्यतम है। वस्तुतः नास्ति सत्यात् परो धर्मः' (महाभा० शा० १६३। २४) सर्वथा सटीक है, सार्थक है। इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'सत्य मूल सब सुकृत सोहाए।'

सच्ची बात तो यह है कि सत्यकी ही विजय होती है—'सत्यमेव जयते।' असत्यकी विजय कभी नहीं होती—नानृतम्। 'अतः श्रुति कहती है—सत्यसे प्रमाद न करना—सत्यान्न प्रमदितव्यम्।'

तमसो मा ज्योतिर्गमय

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

अन्धकार है ही नहीं।

अस्तित्व तो प्रकाशका है, अन्धकारका कहाँ ? प्रकाशाभावके बलपर—उसका आधार लेकर अन्धकारका तो आभास भर हो रहा है। प्रकाशके रहते तो उसका नाम-निशान भी नहीं रहता, रह सकता ही नहीं।

जब जहाँ जैसा जितना प्रकाशाभाव, तब वहाँ वैसा उतना ही अन्धकाराभास।

थोड़ी देरके लिये यह मान भी लें कि ऐसा नहीं है—अन्धकारका स्वतन्त्र अस्तित्व है तो भी इस मान्यताके प्रकाशमें देखें, परखें, निष्कर्ष निकालें और विचार करें, स्पष्ट होगा कि—

प्रकाशका कार्य है आलोकित करना। उसकी उपस्थितिमें ही सब कुछ दृश्यमान है। अन्धकारका कार्य है अन्धा बना देना, उसके व्यापकत्वमें ही हमें कुछ भी दिखायी नहीं देता। और,

जब अन्धकार निविड़तम हो—सूर्य, चन्द्रमा, तारक-तारिकाएँ, दीपक-दीपिकाएँ—कोई भी प्रकाश-प्रतिनिधि उसे चुनौती न दे रहा हो, तब तो उसीका एकच्छत्र साम्राज्य हो जाता है। कुछ भी द्रष्टव्य नहीं होता—हाथ-पसारा नहीं सूझता। फिर,

अब यहीं जरा रुकें और गहरे उतरें। यह सब होते हुए भी एक वस्तु तो तब भी दीखती-सूझती ही रहती है। उसका दीखना-सूझना कभी बंद नहीं होता। वह क्या है ? वह है अन्धकार स्वयम्। उसे कौन देखता है ? देखनेवालेकी आँखें क्या हैं ? उसका प्रकाशक कौन है ?

यह दीखना-सूझना दर्शाता है कि निविड़ अन्धकारमें भी किसी-न-किसी मात्रामें प्रकाश है। प्रकाशके बिना प्रत्यक्ष कहाँ ? दर्शन कहाँ ? भले ही अन्धकारका ही दर्शन हो। है तो यह प्रकाशके अस्तित्वका सूचक ही।

एक बात और है। यदि अन्धकारका स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो वह स्वयंको भी हमारी दृष्टिसे लुकाता-छिपाता—स्वतन्त्र रूपसे कुछ किया करता। किंतु ऐसा होता कहाँ है ? उसकी गहनता, पूर्णता भी अपनी निविड़तम तमिस्रामें कब बढ़ती है—जब प्रकाशका 'भास' नहीं होता। निविड़तम तमिस्राके बोधका प्रकाश तो रहता ही है। निष्कर्ष कि—आलोकका कभी सर्वथा अभाव नहीं होता। वही ज्योति है।

अन्धकारकी मिथ्या मान्यता ठहर नहीं पाती; क्योंकि अस्तित्व तो प्रकाशका है, अन्धकारका नहीं। अन्धकारका दर्शन तो प्रकाशमात्राकी न्यूनता है, अन्धकारकी वास्तविकता नहीं।

सचमुच, अन्धकार है ही नहीं। यथार्थतः सर्वत्र ज्योति-ही-ज्योति है। प्रकाशका प्रभामण्डल सर्वतः परिव्याप्त है। वह परिस्थितिवश अन्धकारके प्रतिभासित झीने आवरणमें ढक जाता है।

आवश्यकता है उस आलोकके दर्शनके लिये सतत प्रयत्नकी—अज्ञानान्धकारसे निपटनेके लिये निरन्तर ज्ञानदीप प्रज्वलित करते रहनेकी। तभी साधना-जगत् आलोकित होगा। सत्यालोकसे सभी कुछ मुखरित हो जानेपर ही जीवन-यात्राका सूत्र हाथ लग सकेगा। प्रकाशत्वकी ध्येय-साधना तभी सफल होगी, जब यह चिर सत्य स्वतः सिद्ध होगा कि अन्धकार है ही नहीं और जो प्रतिभासित होता है, उससे हम ज्योतिर्मय प्रकाशकी ओर मुड़ जायँ। यही है श्रुतिकी यह प्रार्थना—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।

किरात-शिव

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०)

महाभारतकी शिव-कथाओंमें किरात-शिवकी कथाका एक विशिष्ट स्थान है। यह कथा हमें महाभारतमें पहली बार मिलती है। वनपर्वके अध्याय ३८से ४१तकके चार अध्याय किरात (शिव)की कथासे सम्बद्ध होनेके कारण (अवान्तर) कैरातपर्वके नामसे प्रसिद्ध है। इन्हीं अध्यायोंमें यह कथा मुख्यरूपसे मिलती है तथा लगभग इसी रूपमें यह कथा शिवपुराण (ज्ञानसं० अध्याय ६५से ६७ तक)में भी पायी जाती है। महाकवि भारविने इसीका आश्रय लेकर 'किरातार्जुनीयम्' नामक ललित महाकाव्यकी रचना की है। भगवान् शिवको प्रसन्नकर उनसे पाशुपतास्त्र पानेके लिये अर्जुनका हिमालयपर्वतके इन्द्रकील शिखरपर पहुँचकर तप करना, अर्जुनके बलकी परीक्षाके लिये शूकररूपधारी 'मूक'नामक दानवके आखेटको निमित्त बनाकर कृत्रिम कलह उत्पन्नकर किरातरूपधारी भगवान् शंकरका अर्जुनसे युद्ध करना, अर्जुनके पराक्रम एवं शिवभक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् महादेवका किरातरूप त्यागकर भगवती उमासहित अपने वास्तविक रूपमें दर्शन देना तथा संतुष्ट हुए भगवान् शिवसे अर्जुनको पाशुपतास्त्रकी प्राप्ति इत्यादि इस कथाकी मुख्य घटनाएँ हैं। वनपर्वके अध्याय ४९में इस कथाका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन है, परंतु इसमें भी भगवान् शिवके किरातरूपका स्पष्ट उल्लेख है[1]। वनपर्वके अध्याय १६७में पुनः अर्जुनने अपने मुखसे यह कथा सुनायी है। आदिपर्वमें भी अनेक स्थलोंपर इस कथाका सांकेतिक विवरण प्राप्त होता है[2]।

यद्यपि शैव-धर्मके अध्ययनकी दृष्टिसे इस कथामें अर्जुनकी तपस्याकी रीति, पार्थिव-लिङ्गका पूजन, देव-दर्शन, शिवस्तुति, भगवान् शिवकी अष्टमूर्ति, एकादशात्मा हरिरुद्र आदिके उल्लेखके रूपमें पर्याप्त सामग्री है, परंतु हमारा प्रयोजन इस लेखमें भगवान् शिवके आगमिक रूप 'किरात-रुद्र'की उपासनाकी विवेचनमात्रसे है।

महाभारतके कैरातपर्वकी कथामें इतना ही उल्लेख मिलता है कि 'सर्वपापहारी पिनाकपाणि शंकरने किरात वेष धारण किया। उनका शरीर सुमेरुपर्वतके समान शक्तिमान् और विशाल था। वे एक सुन्दर धनुष् और सर्पोंके समान विषाक्त बाण लेकर (अर्जुनके तपस्या-स्थानकी ओर) बड़े वेगसे चल पड़े। उनके साथ समानव्रत वेषधारिणी भगवती उमा भी थीं[3]।' परंतु महाभारत या शिवपुराणमें कहीं भी यह वर्णन नहीं मिलता कि भगवान् शिव या भगवती उमाके किरातरूपकी वेष-भूषा कैसी थी। श्रीनारायणकृत 'तन्त्रसारसंग्रह' (विषनारायणीय तन्त्र)में भगवान् शिव एवं भगवती गौरीद्वारा प्राचीन कालमें किरात (शबर) रूप धारण करनेका तथा भगवती पार्वतीके शबरी (किरात) रूपकी वेष-भूषाका उल्लेख प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है—

१—कैरातं वेषमास्थाय योधयामास फाल्गुनम् ॥ (वनपर्व ४९ । ५)

२—महाभारत आदिपर्व (१ । १६२, २ । ५०, २ । ५८, १२२ । ४४,

३—पिनाकपाणिर्भगवान् सर्वपापहरो हरः ॥ कैरातं वेषमास्थाय काञ्चनद्रुमसंनिभम् । विभ्राजमानो विपुलो गिरिर्मेरुरिवापरः ॥ श्रीमद्धनुरुपादाय शरांश्चाशीविषोपमान् । निष्पपात महावेगो दहनो देहवानिव ॥ देव्या सहोमया श्रीमान् समानव्रतवेषया । (वनपर्व ३९ । १—४)

पार्वती शबरीवेषा वरदाभयदायिका ॥ ५१ ॥
मयूरवलया पिच्छमौलिः किसलयांशुका ।
सिंहासनस्था मायूरच्छत्रा बर्हिध्वजान्विता ॥ ५२ ॥
ईशः किरातरूपोऽभूत् पुरा गौरी च तादृशी ।
तामेनां त्वरितां ज्ञात्वा जपेद् ध्यायेद्यजेदपि ॥ ५४ ॥
(द्वाविंशः पटलः)

देवी पार्वती शबरी (किरात) वेषमें सिंहासनपर बैठी थीं । उन्होंने किसलयनिर्मित अंशुक, मयूरवलय, मयूर-पंखका मुकुट, मयूरछत्र एवं मयूरध्वजको धारण किया हुआ था । भगवान् रुद्रने भी पार्वतीकी ही भाँति प्राचीनकालमें किरातरूप धारण किया था । भगवती इस किराती रूपमें 'त्वरितादेवी' हैं, जो ध्यान, जप एवं होमसे प्रसन्न होती हैं । त्वरितादेवी वाञ्छितार्थको देनेवाली, रक्षाकारिणी एवं ग्रहपीड़ाको दूर करनेवाली हैं । अग्निपुराण (अध्याय ३१० । ६-७)के अनुसार त्वरिता-देवीके पूजनसे शत्रुका नाश होता है । त्वरितादेवीका आराधक राज्यको भी अनायास ही जीत लेता है । वह दीर्घायु तथा राष्ट्रकी विभूति बन जाता है । दैवी और लौकिक सभी सिद्धियाँ उसके अधीन हो जाती हैं ।

देवीके 'त्वरिता' नामकी व्याख्या 'कल्याण' (वर्ष ४५ । १)के 'अग्निपुराणाङ्क'के त्वरितापूजा (अध्याय ३०९, पृष्ठ ५१७)के प्रकरणकी पादटिप्पणीमें इस प्रकार दी गयी है—'भगवान् शंकर और भगवती पार्वती अर्जुनपर कृपा करनेके लिये किरात और किरातीके वेषमें उनके समक्ष प्रकट हुए थे, उस रूपमें देवी पार्वती बहुत शीघ्र भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करती या करनेके लिये त्वरायुक्त (उतावली) रहती हैं; इसलिये उन्हें 'त्वरिता' संज्ञा दी गयी है ।'

उपर्युक्त तन्त्रोक्त कैराती-रूपका उल्लेख अग्निपुराण (अध्याय १४७,३०९ । ६—१० तथा अध्याय ३१०-३१४ तक)में त्वरितादेवीके नाम एवं रूप एवं सिद्धिके उपायका वर्णन मिलता है—त्वरितादेवी साक्षात् पर्वतराजनन्दिनी श्रीस्वरूपभूता हैं, इसलिये इनका नाम पार्वती है । शबर (किरात)का वेष धारण करनेसे उनको 'शबरी' कहा गया है । वे सबकी स्वामिनी या सबपर शासन करनेमें समर्थ होनेसे 'ईशा' कही गयी हैं । उनके एक हाथमें वरदमुद्रा और दूसरेमें अभयमुद्रा शोभा पाती है । मोरपंखका कङ्कण धारण करनेसे उनका नाम 'मयूरवलया' है । मयूर-पंखका ही मुकुट धारण करनेसे उन्हें 'पिच्छमौलि' कहा जाता है । नूतन पल्लव ही उनके वस्त्रके उपयोगमें आते हैं, अतः वे 'किसलयांशुका' कही गयी हैं । वे सिंहासनपर विराजमान होती हैं । मोर-पंखका छत्र धारण करती हैं और त्रिनेत्रधारिणी तथा श्यामवर्णादेवी हैं । आपादतललम्बिनी माला उनका आभूषण है । ब्राह्मणादिजातीय दो-दो नाग क्रमशः देवीके कर्णाभूषण, बाजूबन्द, कटिकिंकिणी एवं नूपुरके रूपमें उनकी शोभाको बढ़ाते हैं । साधक स्वयं भी देवीरूप होकर उनके मन्त्रका एक लाख जप करे । पूर्वकालमें देवेश्वर शिव किरातरूपमें प्रकट हुए थे । उस समय देवी पार्वती भी तदनुसार ही किराती बन गयी थीं । सब प्रकारकी सिद्धियोंके लिये उनका ध्यान करे, उनके मन्त्रका जप करे तथा उनका पूजन करे ।

कैरातीरूपमें भगवती त्वरिताके ध्यान एवं मन्त्रका वर्णन 'शारदातिलक'के दशम पटलमें भी मिलता है । उनके ध्यानका श्लोक है—

श्यामां बर्हिकलापशेखरयुतामाबद्धपर्णांशुकां
गुञ्जाहारलसत्पयोधरभरामष्टाहिपान् बिभ्रतीम् ।
ताटङ्काङ्गदमेखलागुणरणन्मञ्जीरतां प्रापितां
कैरातीं वरदाभयोद्यतकरां देवीं त्रिनेत्रां भजे ॥

'मैं किरातीके वेषमें प्रकट हुई त्रिनेत्रधारिणी श्यामवर्णा षोडशवर्षीया देवी पार्वतीका ध्यान करता हूँ । वे मोरपंखका मुकुट एवं वलय धारण करती हैं । कोमल पल्लवीके अंशुकसे उनका शरीर आच्छादित है

उनके पीन-पयोधर गुञ्जाओंके हारसे विलसित हैं। आठ अहीश्वरोंको वे क्रमशः ताटङ्क (कर्णाभूषण), बाजूबन्द, कमरकी करधनी एवं पैरोंकी मंजीरके आभूषणके रूपमें धारण करती हैं। इस अनुपम वेश-भूषासे विभासित त्वरिता देवीके उठे हुए हाथ वरद और अभयकी मुद्रासे मनोरम प्रतीत होते हैं।'

यह उल्लेखनीय है कि 'शारदातिलक'में त्वरिता देवीके मन्त्रके ऋषि 'अर्जुन' ही हैं। उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि महाभारत-कालमें अर्जुनने किसी-न-किसी रूपमें किरात-शिवकी आगम-प्रतिपादित त्वरिता-विद्यासे सम्बद्ध मन्त्रोपासना की थी। तन्त्रसम्प्रदायके मन्त्रोपासनामें नियम है कि शक्तिमान् (शिव)के मन्त्रकी उपासनाके विना अकेले शक्ति-मन्त्रकी उपासना सिद्धिदायिनी नहीं होती। इसलिये सम्भव है कि त्वरिता-विद्याके अङ्गरूपमें अर्जुनने किराती-शिवाके साथ किरात-शिवकी उपासना की हो। वैसे तन्त्रसार-संग्रह (विषनारायणीतन्त्र, चतुर्थ पटल, श्लोक ३६)में वर्णित—**'ओं ह्रीं रुद्रकिरातरूपधारिणे विषवन्धोऽसि मुद्रितोऽसि कीलितोऽसि'** में 'रुद्र-किरात'की स्वतन्त्ररूपसे उपासनाका संकेत मिलता है। तन्त्रग्रन्थोंके अनुसार किरात रुद्रका यह मन्त्र ज्वर, बालग्रहादि, संस्तम्भ, आतङ्कादिको दूर करनेके लिये विनियुक्त होता है।

सदाचारसे शान्ति

(लेखक—पं० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी शास्त्री, सद्विद्यालंकार, विद्यावाचस्पति)

आज ऐसा दीखता है कि हमारे समाजके संयमका बाँध टूट गया है और उसमें दुराचारकी भीषण बाढ़ आ गयी है। कोई अन्वेषक उसका कारण विदेशी संस्कृति बतलाते हैं तो कोई सहशिक्षण एवं परस्परका अन्धानुकरण बतला रहे हैं, किंतु श्रीमद्भागवतमें अनाचारसे उत्पन्न दोषोंका मूल कारण एक ही बतलाया गया है—**'सर्वदोषेषु मुख्योऽयमिन्द्रियाणामसंयमः।'**

'इन्द्रियोंका असंयम ही सभी दोषोंमें मुख्य दोष है।' असंयम ही मनुष्यको आचारभ्रष्ट बना देता है।

गुजरातके एक सुधारक कवि श्यामल भट्टने 'वेन-चरित' नामक काव्यमें निरूपण किया है कि अविधि-विवाहसे उत्पन्न अङ्गपुत्र वेनने समस्त प्रजाजनोंको अपने समान विलासी एवं स्वच्छन्द बनानेके लिये प्रजाको दुराचारकी प्रचण्ड आगमें ढकेल दिया। उसने ऐसे बाजार लगवाये, जिसमें विधवाओंके लिये शृंगार एवं देहसज्जाका सामान बिना मूल्य मिल सके। विधवा—विधुर सम्पर्कके लिये उसने ऐसे उपवनोंकी रचना की, जिसमें स्वच्छन्द आचरणको बेरोक-टोक प्रोत्साहन मिल सके। उसने विधवा-विवाहके लिये इनाम बाँटनेका आयोजन किया और ऐसे मेलोंकी योजना की कि जिसमें चटाकेदार और इन्द्रियोंको भड़कानेवाली खाद्य एवं पेय-सामग्री बिना मूल्य उपलब्ध हो सके।

परिणाम वही हुआ, जो होना चाहिये था। राजस्व एकदम बढ़ गया। धर्म्य-यागादि कार्योंको नहीं करनेके अध्यादेश दिये गये—**'न यष्टव्यं न होतव्यं न दातव्यमिति स्थितिः'** (श्रीमद्भा० ४।१४।६)इत्यादि। फलतः दुष्काल, महामारी और ऐसे ही महारोगोंसे पीड़ित प्रजा त्राहि-त्राहि पुकारने लगी। ऋषि-मुनियोंने स्वयं आकर राजा वेनको उपदेश दिया, किंतु **'मूर्खस्य नास्त्यौषधम्।'** (भर्तृ० नीतिशतक ११) फलतः कोपाविष्ट ऋषियोंने उसे शाप देकर मृत्युके मुखमें फेंक दिया।

वेनके निधनके बाद उसके अङ्गज महाराजा पृथुने पीड़ित प्रजाका परित्राण किया। फिरसे सद्धर्म और सदाचारका स्थापन हुआ।

यह याद रहे कि अनाचार और दुराचार एक ऐसा संक्रामक रोग है जो सङ्गदोषद्वारा बहुत जल्दीसे प्रजाके हृदयमें व्याप्त हो जाता है, किंतु सदाचारका प्रयत्नपूर्वक पालन करना पड़ता है। दुराचारमें भौतिक प्रलोभन भी होते हैं, नैतिक दुर्बलतावाले लोग इन प्रलोभनोंसे प्रभावित होकर उस महादोषके शिकार बन जाते हैं। विलासिता, तुच्छ रस-लोलुपता, मिथ्या टापटीप और कृत्रिम सभ्य बननेकी इच्छा आदि इन प्रलोभनोंके विविध रूप हैं। उन्हींके अधीन होकर ही मनुष्य सदाचार-जैसे महारत्नको खो बैठता है। इस महादोषसे बचनेके लिये हमें गीतावक्ता आदेश दे रहे हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १५। ५)

'मान-मोह एवं सङ्गदोषको जीतनेवाले, निष्काम और अध्यात्मभावयुक्त तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे विमुक्त सुज्ञ मनुष्य ही अव्यय-अविनाशी पदको प्राप्त करता है।'

'राजा कालस्य कारणम्' (महाभारत १२। ६०) इस महाभारतीय वाक्यानुसार प्रतीत होता है कि प्रजामें अनाचार-दुराचार फैलानेमें राजसत्ताका दुराग्रह भी अधिकांश कारणभूत होता आया है। हमारे यहाँ भी होटलों, लाटरी, सहशिक्षण आदिको प्रोत्साहन दिया जाता है। उससे उत्पन्न विषवृक्षको ही हम भ्रष्टाचारके नामसे पहचानते हैं जिसकी चर्चा तो बहुत है, पर सुधारनेका प्रयत्न नहीं हो रहा है।

आजकल बहुतोंके मुखसे यह सुना जाता है कि जमाना बदल रहा है, हमें जमानेके साथ-साथ चलना चाहिये। अनाचारके पोषकोंका यही एकमात्र स्वर्णसूत्र रहा है। किंतु इस जमानेको बदल कौन रहा है? ये ही शिश्नोदरपरायण स्वार्थान्ध लोग ही तो जमानेकी रट लगाकर भोले-भाले लोगोंको अपने जालमें फँसा रहे हैं? इस विषयमें महर्षि पराशर हमें कलिसे—कलिके दोषोंसे बचनेका निदर्शन दे रहे हैं—

सदयं हृदयं यस्य भाषितं सत्यभूषितम्।
कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥
(सु० ४। १६२। ९६)

कालका प्रवाह प्रतिक्षण बदलता रहता है तो उसके साथ-साथ मनुष्यको भी बदलते रहना चाहिये? प्रवाहमें पड़े हुए सड़े-गले तिनके-पत्ते तो प्रवाहके साथ बहते रहते हैं और इधर-उधर किनारेपर भटककर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, किंतु तटस्थ पर्वत एवं विशाल वृक्ष-समुदाय उन प्रवाहित तिनके-पत्तोंकी दुर्दशाको साक्षिवत् मौन होकर देखते रहते हैं, उस प्रबल प्रवाहमें कूद नहीं पड़ते।

आजके सदाचारके पालनमें शिथिल हमारे युवक यह भी तर्क करते हैं कि रसोई-घरमें जूते पहनकर जानेमें आपत्ति क्यों है? जूतेमें जैसा चमड़ा है, हमारे शरीरमें भी तो वैसा ही है? यह उनकी थोथी दलील उन्हें दिनोंदिन अनाचारी बननेमें सहायक हो रही है। यही क्यों, हमारे राष्ट्रिय एवं सामाजिक स्तरके बड़े लोगोंमें भी सदाचारकी शिथिलता दृष्टिगोचर होती है। जनताके कोटि-कोटि रुपयोंका गोलमाल एवं भोज रिश्वत आदिके अनाचार देखनेके लिये तो अब बहुत दूर जानेकी आवश्यकता भी नहीं है। हजारोंमेंसे कोई ही एक माईका सपूत होगा, जो ईमानदारीसे देश और समाजकी सेवामें संलग्न रहता हो। पत्र-पत्रिकाओंमें ऐसी बातें पढ़कर हमारी नयी पीढ़ीमें भी बेईमानी फैलती जा रही है। खान-पान एवं रहन-सहनमें तो हमारे बालकोंके सदाचारका दिवाला ही निकल चुका

है, किंतु स्वार्थ और बेईमानीका असर तो इतना व्यापक हो चुका है कि अगर माता-पिता भी अपने बालकको एक रुपया देकर दूध या कोई अन्य वस्तु मँगाते हैं तो बारह आनेकी वस्तु लाकर ऊपरके चार आनेकी वह भी चोरी कर लेता है !

यह अनाचार आगे बढ़ने न पावे, इसलिये भी देशके, समाजके और घरके अग्रगण्य-मान्य लोगोंको अपने जीवनके रंग-ढंग बदलने चाहिये । गीतामें स्पष्ट कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २)

'श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं, उसीको प्रमाण मानकर अन्य लोग भी अनुकरण करने लगते हैं ।'

अनाचार और दुराचार देखा-देखीसे बढ़ते रहते हैं, उन्हें सदाके लिये तिलाञ्जलि देनेके लिये श्रुति भगवती निरन्तर पुकार रही है—

सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः ।
आचार्यवान् पुरुषो वेद । आचारः प्रथमो धर्मः ।

'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्याय-सत्सङ्गमें प्रमाद न करो, सदाचारी गुरुको प्राप्त करके ज्ञान ग्रहण करो, सदाचार ही प्रथम धर्म है,' इत्यादि ।

किंतु इस आचार-संहिताका प्रारम्भ घरके प्राङ्गणसे ही होना चाहिये । परंतु खेदका विषय तो यह है कि—

परोपदेशवेलायां शिष्टाः सर्वे भवन्ति हि ।
विस्मरन्तीह शिष्टत्वं स्वकार्ये समुपस्थिते ॥
परोपदेशकुशलाः दृश्यन्ते बहवो जनाः ।
स्वभावमनुवर्तन्तः सहस्रेष्वपि दुर्लभः ॥
(शार्ङ्गधरप०)

'अन्यको उपदेश देनेके समय तो सब कोई शिष्ट उपदेशक बन जाते हैं, किंतु अपने आचरणमें लानेके समय वे अपना शिष्टत्व भूल जाते हैं । 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' । किंतु अपने स्वभावमें परिवर्तन करनेवाला तो हजारोंमेंसे एक भी दुर्लभ होता है ।'

अब हम सदाचारको छोड़कर बहुत दूरतक आगे बढ़ चुके हैं, किंतु अभी आगे बढ़नेमें भयंकर खतरा है, अतः हमें सूखे उपदेशक न बनकर 'आचार्यवान्' बनना चाहिये । स्वयं सदाचारको अङ्गीकार करके फिर दूसरोंको उपदेश करना चाहिये । तभी हमारे अनुगामी लोग देश, जाति एवं समाजके उद्धारक बन सकेंगे । केवल वाणीके व्यापारसे पेट नहीं भरता । हाँ, इसमें थोड़े भौतिक प्रलोभनोंका त्याग अवश्य करना होगा, क्योंकि 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'—त्यागसे ही शान्ति मिल सकती है । भोगेच्छाको मर्यादित करनेके बाद ही सच्चा स्वास्थ्य, सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकती है । भोगेच्छा अनाचारका सृजन करती जाती है, अतः उसपर प्रतिबन्ध आवश्यक है ।

सुधारकका कर्तव्य सन्मार्गकी प्रेरणा देना है

भगवान् बुद्ध मगधराजके श्रीपाल नगरमें प्रवचन कर रहे थे । एक नागरिकने प्रश्न किया—'भगवन् ! आपके उपदेशोंपर अमल कम लोग ही करते हैं, लेकिन आप फिर भी निराश नहीं होते ऐसा क्यों ?

महात्मा बुद्धने सरलभावसे उत्तर दिया—'वत्स ! सुधारकका कर्तव्य सन्मार्गकी प्रेरणा देना है, सफलताका मूल्याङ्कन करना नहीं । जिन्हें सफलताकी कामना होती है, उनसे वास्तविक 'जन-कल्याण' नहीं हो सकता ।'

काशीके सिद्धयोगी हरिहरबाबा

(लेखक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

श्रावण मासकी सरसराती गङ्गाकी धारामें, भादोंकी उमड़ी भयानक बाढ़में, सोलहसे लेकर बीस घंटेतक जल-समाधि लगानेवाले, वैशाख-ज्येष्ठकी तपती बालुकामें बैठे रहकर ध्यान लगानेवाले और माघकी भयानक शीतमें आकण्ठ जलमें मग्न रहकर भगवत्-चिन्तन करनेवाले श्रीहरिहरबाबा (साधुओंके) 'हरिहर भैया' आजसे प्रायः ३५ वर्ष पूर्वतक वाराणसी-का गौरव बढ़ा रहे थे।

परमपावन काशी नगरी बाबा विश्वनाथ और गङ्गाजीकी स्थितिके अतिरिक्त अनेक संत-महात्माओं और योगियोंका गढ़ रहा है। भगवान् बुद्धने काशीसे सम्बद्ध सारनाथमें रहकर धर्म-प्रचार किया था। जगद्गुरु शंकराचार्य-जैसे उद्भट दार्शनिक विद्वान् एवं भाष्यकार आचार्य भी काशीपुरीकी शोभा बढ़ा चुके हैं। इसी प्रकार संत हरिहरबाबाने, जिन्हें महामना 'हरिहर भैया' कहा करते थे, कई दशकोंतक काशीपुरीमें निवासकर अपने योग और साधनाओंसे यह सिद्ध कर दिया कि मानव मोमका पुतला नहीं, वह मनचाही सिद्धि भी प्राप्त कर सकता है और अपनी कोमल कायाको कठोरतम बना सकता है। उनकी साधनाकी बातें अलोक-साधारण हैं।

बाबा हरिहरानंदजीका जन्म जाफरपुर गाँव (बिहार प्रान्तके सारन जनपद)में हुआ था। बालक हरिहरकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ हुई और प्रारम्भमें ही वे संस्कृत पढ़ने लगे। प्रथमा-परीक्षा देनेके समय ही उनके मनमें एक विचार उठा कि हम गर्ग, गौतम, कपिल कणादकी संतान हैं; हमारे पूर्वज दूसरोंकी परीक्षा लेते रहे और अब हम विद्या-सम्बन्धी परीक्षामें दूसरोंके सामने परीक्षार्थी बन गये! यह कितना परिवर्तन! ऐसी परीक्षासे लाभ क्या होगा? विद्या परीक्षा देनेके लिये नहीं है। विद्याका तो सतत अध्ययन और मनन होना चाहिये। इतना विचार उठते ही बालक हरिहरने तुरंत परीक्षा-भवन छोड़ दिया। उन्होंने अपनी जन्मभूमि-की ओर न चलकर सीधे वाराणसीपुरीकी यात्रा कर दी। कुछ दिन वाराणसीमें संस्कृतका अध्ययन कर वे अयोध्या पहुँचे। अयोध्या वैरागी वैष्णवोंकी पुरी मानी जाती है। हरिहरके मनमें विरक्तिकी भावना पटनाके संस्कृत-परीक्षा-भवनमें ही जाग्रत हो गयी थी। हरिहर अयोध्यामें एक संतके पास रहकर अध्ययन करने लगे। अध्ययन करते समय ही किसी वैरागीसे उनका धार्मिक वाद-विवाद हो गया। वैरागीको बालक हरिहरके तर्कोंसे चिढ़ हो गयी और बालक हरिहर भी वहाँके वातावरण-से ऊब गये। फिर वे वाराणसी वापस आ गये। बालक हरिहरका मन ईश्वराराधनमें रम गया। वे भगवत्-चिन्तनमें लग गये; किंतु किसीसे गुरु-मन्त्र नहीं लिया!

एक दिन बालक हरिहरकी भेंट वाराणसीके तत्कालीन प्रख्यात संत श्रीवीतरागानन्दजीसे हो गयी। वीतरागानन्द-जीके साथ हरिहर रहने लगे। तभीसे उन्हें लोग हरिहरानन्द कहने लगे। उनके साथ श्रीहरिहरानन्द लगभग बीस वर्षोंतक काशीके दक्षिण 'छुछुआ'के पोखरपर और 'बनपुरवा'के पास गङ्गाजीमें नावपर रहे। कुछ लोगोंको भ्रम था कि स्वामी वीतरागानन्दजीने स्वामी हरिहरानन्दजीको अपना शिष्य बना लिया है। किंतु दोनों संतोंसे जब जानकारी की गयी तो कुछ भी अवगत नहीं हो सका। इतना ही नहीं, दोनों संतोंसे उनके विषयमें कुछ भी जानकारी करनेकी जिज्ञासासे जब कभी किसीने पूछा तो कुछ भी उत्तर नहीं मिला। यह तो

संतोंकी अपनी बात है । संतोंकी परम्परामें आत्म-प्रकाशन अवाञ्छनीय माना जाता है ।

तपोमय जीवन

शनैः-शनैः संत हरिहरानन्दका तपोमय जीवन प्रारम्भ हुआ और उनका जीवन इतना साधना-सम्पन्न हो गया कि लोग दाँतोंतले अँगुली दबाने लगे । यह चर्चा आजसे पाँच दशकसे लेकर साढ़े तीन दशकके बीचकी है । इस तपस्वीके तपोमय जीवनको देखनेवाले अभी हजारों व्यक्ति वाराणसीमें ही हैं । उनके चरण-स्पर्शके बहाने लेखकने उनकी देहका भी स्पर्श किया है, जो ज्येष्ठकी भयानक दोपहरीमें तपायी हुई थी, माघ-के जलको जमा देनेवाले शीतको सहन कर चुकी थी और बरसातकी गङ्गामें जो बीस-बीस घंटेतक शवके समान समाधिस्थ दशामें तैरती रहती थी ।

गड़वाघाट (काशीपुरी)के आगे छोटा मिर्जापुर गाँव है जो गङ्गाके किनारेपर है । श्रावण-भादोंकी उफनती गङ्गामें हरिहरबाबा मिर्जापुरके पास गङ्गामें बैठ जाते और तैरकर बीच धारामें जाकर समाधि लगा लेते थे तथा शवके समान बहते हुए वरुणा-गङ्गा-सङ्गमके आगे गङ्गाके पूर्वी तटपर एक किनारे लग जाते थे । वहाँसे पुनः दक्षिणकी ओर पैदल चल देते थे । गङ्गा-के किनारे जहाँ रात्रि हो जाती, वहीं रुक जाते और बरसातके भयानक वातावरणमें खुले आकाशमें पृथ्वीपर बैठ जाते, कुछ देर सो लेते । यदि कोई भक्त दूध या फल लेकर वहाँ पहुँच जाता तो दूध या फल ग्रहण भी कर लेते; अन्यथा भगवान्‌के भरोसे रात्रि व्यतीत हो जाती थी । यह तथ्य भी जानकारीमें आया कि बाबाके भक्तोंकी संख्या पर्याप्त हो चुकी थी । कोई-न-कोई भक्त रात्रिके घनघोर अन्धकारमें लालटेन आदिके प्रकाशमें हरिहरानंदजीकी खोज अवश्य करता । वे फल या दूध ही ग्रहण करते थे ।

जाड़ेकी भयानक शीतमें योगिराजजीका यही क्रम चलता था और वे गङ्गाजीमें पैठकर आकण्ठ जलमें खड़े रहकर निदिध्यासन किया करते थे । ज्येष्ठकी तपती दोपहरीमें वे बालुकामें बैठकर समाधि लगाते थे । फलस्वरूप उनके शरीरका चमड़ा हाथीके चमड़े-जैसा बिल्कुल काला और मोटा हो गया था ।

अवस्थाका कुछ प्रभाव जब उनपर पड़ने लगा और वे अपनी कायाको जब कुछ अक्षम समझने लगे तो एक नौकापर (काशी-हिंदू-विश्वविद्यालयके पास गङ्गाके किनारे) रहने लगे । नौकापर रहते हुए भी वे नित्य-क्रिया (मल-मूत्रका त्याग)के लिये गङ्गाके दूसरे भाग (पूर्व-तट)पर ही जाया करते थे । श्रावण-भादोंकी भयानक बाढ़में भी मल-मूत्रका त्याग उन्होंने काशीकी सीमामें नहीं किया ।

योगिराजजीके तपोमय जीवनकी कुछ झलक तो आपको मिल गयी, किंतु उनके तपस्वी और त्यागमय जीवनकी कहानी भी विचित्र और रोचक है । जिन दिनों स्वामी गङ्गाकी धारामें समाधिस्थ होकर छोटे मिर्जापुर गाँवसे वरुणा-गङ्गा-संगमकी ओर जाते थे, उस समय उन्हें बहता देखकर घाटपरके स्नानार्थी यही समझते थे कि कोई मुर्दा (शव) बहता जा रहा है । हाँ, कुछ परिचित जब बाबाको घाटपरसे ही सिर झुका हाथ जोड़कर अभिवादन करते तो दूसरे अपरिचित भी समझते थे कि कोई योगी योगासन करके श्वास रोककर बहता जा रहा है । जाड़ेके दिनोंमें बाबाको जब किसी गाँवके पास गङ्गाके किनारे भयानक शीतमें (रात्रिमें) कोई कम्बल, नयी रजाई या दुशाला ओढ़ा देता तो बाबा उसे वहीं छोड़कर प्रातः आगे बढ़ जाते थे । जिसे भी वह मिलता, वही उसे अपने काममें लाता था ।

भारतकी यह भी प्रथा है कि देवमूर्ति और गुरुकी पूजा-के बाद दक्षिणा (द्रव्य) भी चढ़ायी जाती है । बाबाके

पैरोंपर न जाने कितने भक्तोंने खनखनाते चाँदीके सिक्के रुपये-अठन्नी आदि चढ़ाये होंगे, जिन्हें बाबा यत्र-तत्र छोड़कर आगे बढ़ जाते थे। वे जिसे मिलते वह धन्य हो जाता था।

बाबाकी ठीक अवस्थाका परिज्ञान उनके शरीर-त्यागके समय भी नहीं हो सकता था। वास्तवमें योगियोंकी अवस्थाका परिज्ञान शरीरके अवयवोंके द्वारा नहीं जाना जा सकता। उनका जीवन दीर्घ होता है। हरिहर बाबा दीर्घजीवी थे।

संतकी ख्याति

यह तो सर्वविदित है कि संत और योगिजन अपनी आत्म-प्रशंसा और ख्यातिसे दूर भागते हैं। यह सब होते हुए संत हरिहरानन्दके विषयमें वाराणसीके पास-पड़ोसके समस्त जिलोंतक ही नहीं, किंतु गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, बंगाल आदि प्रान्तोंके तीर्थयात्री बाबाका दर्शन करके अपने प्रदेशोंमें उन बाबा हरिहरानन्दकी चर्चा किया करते थे। महाराज काशीनरेश, सोहावलनरेश, जोधपुरनरेश आदि इन पहुँचे हुए संतके दर्शनसे कई बार तृप्त हुए थे। भारतके अन्तिम वाइसराय लार्ड माउन्टबेटन भी इन योगिराजके दर्शनार्थ एकबार उनके पास असीसंगमपर पहुँचे थे।

स्वामीजीका शरीर जब अत्यन्त जीर्ण होने लगा तो वे साधारण नौकासे हटकर एक बजड़ेमें रहने लगे, जिसका प्रबन्ध दानवीर किसी भक्तने करा दिया था। इन सिद्ध संतकी सेवा-शुश्रूषाके लिये उनके साथ कई अन्य साधु रहते थे। भक्तजन स्वामीजीके लिये जो फलाहार—दूध आदि ले जाते थे, उसीमें सबका काम चल जाता था। काशीमें तीर्थयात्राहेतु आनेवाले यात्री गङ्गास्नानके बाद बाबा विश्वनाथके दर्शनके सिवा इन सिद्ध संतका भी दर्शन करके अपनी यात्रा सफल मानते थे।

विश्वशान्तियज्ञमें बाबाका पूजन

सन् ४१में 'विश्वशान्तियज्ञ'में सिद्धसंत पूज्य हरिहर बाबाका षोडशोपचार पूजन किया गया था' जिसका अनुष्ठान मालवीयजी महाराजने स्वयं किया था और यज्ञकी सम्पूर्ण सहायता दानवीर बिरलाजीने दी थी।

संत हरिहरानन्द निमीलितचक्षु रहते थे। एक बारके शीतलाप्रकोपसे उनकी एक आँख जाती रही। वे बहुत कम बोलते थे। बोलनेमें राम राम, शिव-शिव—यही उच्चारण करते थे। एक बार उनके एक भक्तने साहस करके पूछा था—'स्वामीजी! आपको यह सिद्धि कैसे मिली?' स्वामीजीने कहा था—'चाहना (कामना) चमरिया है, ओके छोड़ देऽ तब सिद्धितऽ अपने आप पासमें आ जायेऽ।'

एक बार योगीजीसे किसीने कहा—'महाराज! काँग्रेस मठ और मन्दिरोंकी सम्पत्ति जब्त कर रही है।' संतका कथन था—'ठीक तऽ हव, साधुअनके सम्पत्ति न चाहीऽ।' जिज्ञासुने पुनः कहा—'महाराज! राजाओंकी भी सम्पत्ति छीनी जा रही है।' संतने उत्तर दिया—'रजवौ, सब आपन कर्तव्य भूल गइलन।'

सं० २००६ आषाढ़ शुक्ल पञ्चमी (प्रथम जुलाई १९४९ ई०)को संतने गङ्गाके पावन तटपर असीसंगमपर अपना इह लौकिक शरीर छोड़ दिया। पञ्चतत्त्व पञ्चतत्त्वमें विलीन हो गये और बाबाकी अमर साधना सिद्धितक पहुँचकर काशीकी गौरव-गाथामें एक स्वर्ण कड़ी जोड़ गयी।

परमार्थकी पगडंडियाँ

(नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन)

धन और अधिकारका मोह

जब समाजमें श्रेष्ठताका मानदण्ड 'धन और अधिकार' हो जाता है तथा धन और अधिकारके उपार्जन-की (साधनकी) पवित्रता और उनके सदुपयोगपर दृष्टि नहीं रहती, तब उस समाजका पतन हो जाता है; क्योंकि उस समय समाजके अधिकांश मनुष्योंकी प्रबल कामना 'धन और अधिकार'को प्राप्त करनेकी हो जाती है, चाहे वे किसी और कैसे भी साधनसे प्राप्त हों। और, संसारमें विषयोंकी कहीं इति नहीं है। इसलिये चाहे जितना भी धन या अधिकार प्राप्त हो जाय, कमी बनी ही रहती है, वरं जितना ही अधिक धन और अधिकार मिलता है, उतनी ही अधिक कामना बढ़ती है, वैसे ही जैसे जितनी बड़ी आग होती है, उतनी ही उसकी ईंधनकी भूख बढ़ जाती है। और, इस प्रकार धन और अधिकारको प्राप्त कामनाग्रस्त मोहावृत मनुष्योंके द्वारा दूसरे लोग वैसे ही अधिक जलाये जाते हैं, जैसे बड़ी आगकी आँच दूर-दूरतक फैलकर सबको झुलस देती है। सारांश यह कि इनके 'धन और अधिकार'का भी दुरुपयोग ही होता है। उनसे साधारण लोगोंको सुख नहीं पहुँचता, वरं उनका दुःख ही बढ़ता है और फिर उनको अपने इन कार्योंके लिये कोई पश्चात्ताप भी नहीं होता। वे इसीको लोकसेवा मानते हैं, और जरा-सी सच्ची आलोचना करनेवालोंको भी अपना विरोधी या शत्रु मानकर अपनी शक्तिको उनकी जबान बंद करनेमें लगा देते हैं।

आपके पास धन या अधिकार हैं तो उनका सदुपयोग कीजिये और यदि वे धन और अधिकार बुरे साधनोंसे प्राप्त हुए हैं तो उनके लिये पश्चात्ताप कीजिये। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि फिर ऐसी दुर्बुद्धि न हो। 'धन और अधिकार' यहीं रह जायँगे। इन विनाशी पदार्थोंके लिये सत्य और धर्मको तिलाञ्जलि देना बहुत बड़ी मूर्खता है; किंतु हम आज बड़े गौरवके साथ यही कर रहे हैं! पता नहीं अभी हमें पतनके किस गहरे गर्तमें गिरना है। धन और अधिकारका मोह आज इतना बढ़ गया है कि इसके कारण आज सारे समाजमें मानस-रोग बढ़ रहे हैं। जहाँ देखिये, वहीं दलबंदी, एक दूसरेको गिरानेकी चेष्टा, गंदा स्वार्थ और उस स्वार्थसाधनके लिये न्यायान्यायके विचारसे रहित उद्दाम आसुरी प्रयत्न! यह याद रखना चाहिये कि शरीरका बड़ा-से-बड़ा रोग मृत्युके साथ ही मर जाता है, परंतु मानसिक रोग मरनेके बाद भी साथ जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरतक यन्त्रणा देते एवं नये-नये पाप करवाते रहते हैं। आपलोग (धनी और अधिकारी) समझदार हैं, बहुत-से लोग आपलोगोंको आदर्श मानते हैं और आपके बनाये हुए पथपर चलनेमें अपना कल्याण समझते हैं, इसलिये आपपर विशेष दायित्व है। आप अपने इस दायित्वको समझें और स्वयं पतनसे बचकर दूसरोंको भी पतनसे बचानेमें सहायक हों। यही आपसे मेरा विनयपूर्वक अनुरोध है।

समाज-सेवा और देश-सेवाके लिये 'सरकारी पद' ही आवश्यक नहीं है और न लोक-सेवाके लिये केवल धनकी ही आवश्यकता है। जो लोग सरकारी पदोंपर नहीं हैं और सर्वथा निष्किंचन हैं, पर जिनकी सेवा करनेकी सच्ची इच्छा है, उनके लिये समाज, देश और लोक-सेवाके लिये बड़ा विस्तृत क्षेत्र मौजूद है। वरं यह कहना अत्युक्त नहीं होगा कि जो लोग पदोंके बन्धनमें नहीं हैं और जिनके पास अभिमान तथा

मोहके प्रधान हेतुरूप धनका अभाव है, वे ही अधिक उत्तम और अधिक सात्त्विक भावसे ठोस सेवा कर सकते हैं। हमको जब समाज-सेवा ही करनी है, तब अधिकारका मोह क्यों होना चाहिये और क्यों इसके लिये इतनी पैंतरेबाजी करनेकी बात सोचनी चाहिये। भगवान् हमलोगोंको इस मोहसे मुक्त करें।

धनका सदुपयोग कीजिये

धनसे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। यदि किसीके पास धन आये तो उसे तुरंत भगवत्प्रीत्यर्थं लोकसेवाके कामोंमें लगाना आरम्भ कर देना चाहिये। धनकी सार्थकता तथा सफलता इसीमें है। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्यय किया हुआ धन भगवान्‌की प्रसन्नताका कारण होता है और फलतः व्यय करनेवालोंको भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। धनकी तीन गतियाँ हैं—दान, भोग और नाश। इनमें भगवत्प्रीत्यर्थं धनका दान उसका सर्वोत्तम उपयोग है, भोग निकृष्ट है और परिणाममें दुःखदायी है। नहीं तो, नाश तो होगा ही। बड़ी साधसे छिपाकर रखा हुआ धन जब जबरदस्ती जाता है, तब बहुत दुःख होता है। पहले उसका सद्व्यय किया नहीं, फिर सिर पटककर रोना पड़ता है। धन भी छूटता है और वह सुखको भी साथ ले जाता है। बटोरे हुए धनका बलपूर्वक अपहरण और विनाश आज प्रत्यक्ष है, यह धनकी अवश्यम्भावी गति है। आप चाहे जितने दुखी हों, यह तो जायगा ही। बस, इसके बटोरनेमें आपने जो पाप किये, उनका फल यहाँ और आगे आपको भोगना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त इसको लेकर यहाँ जो चिन्ता तथा दुःख है, वह अलग है। अब भी मेरा तो यही निवेदन है कि बचे-खुचे धनका यदि कुछ सदुपयोग हो सके तो कर लेना चाहिये। किसी तरह, मान लीजिये, यदि आपने छलछद्म करके इसको बचा भी लिया, जिसकी सम्भावना बहुत कम है, तो आपके उत्तराधिकारी इसका कैसा सुन्दर सदुपयोग करेंगे, इसका अनुमान आप उनके वर्तमान विचारों और आचरणोंसे लगा सकते हैं! सच्ची बात तो यह है कि धनको जो इतना महत्त्व दिया जा रहा है, यही भूल है। सच्चा धन तो भगवान्‌का भजन है, मन लगाकर उसका संचय कीजिये। छोड़िये इसकी चिन्ताको, यह तो कभी छूटेगा ही नहीं। इस समय रह भी जाता है, तो मरनेके समय इसे छोड़ना पड़ता है। यह साथ तो जाता ही नहीं, फिर अभीसे इसका मोह छोड़कर निश्चिन्त क्यों नहीं हो जाते? आप अपनेको बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं और बुद्धिमान् हैं भी। किंतु यह तो बुद्धिका दुरुपयोग हुआ, जिससे आज आपको दुखी होना पड़ रहा है। इस बुद्धिको, विवेकको अब जगत्‌से मोड़कर भगवान्‌की ओर लगा दीजिये। घबरानेकी जरा भी बात नहीं है। जितनी आयु आपकी शेष है, यदि उसका एक-एक श्वास आपने भगवान्‌को सौंप दिया तो सारे पाप-तापोंसे मुक्त होकर इसी जन्ममें आप भगवान्‌को पाकर अनन्त जीवनकी साध पूरी कर सकते हैं।

आधुनिक शिक्षा और सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीघनश्यामदासजी पालीवाल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

पाश्चात्त्योंके आगमन एवं संसर्गसे पवित्र भारतीय शिक्षा पद्धतिमें सहसा परिवर्तन हुआ। शिक्षण-संस्थाएँ शनैः-शनैः आचार दृष्ट्या बिगड़ने लगीं। अब आये दिन जो इनमें अमर्यादित अवाञ्छनीय घटनाएँ घटने लगी हैं, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होने लगा है कि आज 'शिक्षा और सदाचार' तथा 'विद्या और विनय'में कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। शिक्षाके मौलिक उद्देश्यस्तम्भ—**'विद्या ददाति विनयम्', 'सा विद्या या विमुक्तये', 'अमृतं तु विद्या'**—आज ढह रहे हैं और विनयके स्थानपर उद्दण्डता, मुक्तिके स्थानपर स्वार्थोंकी गुलामी प्रबल होती जा रही है और विद्या विषवल्ली हो रही है। पहले भारतमें गुरुको ब्रह्मा, विष्णु और महेशके समान वन्दनीय माना गया था—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
(गर्गसंहिता ४ । १ । १४)

पर आजकी स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। इस समस्याके निदान-हेतु एक ओर तो शिक्षाके मूल्यों, आदर्शों और उपलब्धियोंपर नवीनरूपसे विचार करना होगा और दूसरी ओर शिक्षा-प्रणालियों, पाठ्यक्रमों तथा शिक्षकोंके चयन और उनकी भूमिकापर ध्यान देना होगा। ऐसे समयमें हमारा ध्यान रस्किन (Ruskin)की उस उक्तिकी ओर जाता है, जिसे उन्होंने शिक्षाके उद्देश्यका पुनर्मूल्याङ्कन करते हुए कहा था। उनका कथन है—'Education does not mean to teach people to know what they do not know; but to teach them to behave as they do not behave' अर्थात् 'शिक्षाका उद्देश्य यह नहीं कि लोगोंको वह सिखाया जाय, जिसे वे नहीं जानते; वरन् यह कि उन्हें ऐसा आचरण करनेकी शिक्षा दी जाय, जैसा वे नहीं करते।' जिस तथ्यकी ओर शिक्षाविद् रस्किनने १९वीं शताब्दीमें संकेत किया, उसका हमारे स्मृतिकारोंने बहुत पहले ही उल्लेख किया था—

'शौचाचारांश्च शिक्षयेत्'। (याज्ञव० १ । १५)

शिक्षाकी दिशा मोड़ने एवं मनुष्यके विकासको एकाङ्गी बनानेमें विज्ञानके नवीनतम अन्वेषणोंने भी योग दिया है। व्यक्ति अधिकाधिक तर्कशील एवं बौद्धिक बनता जा रहा है और उसमें भ्रातृभावना, सहानुभूति, पारस्परिक सहयोग और सद्भावनाओंका लोप होता जा रहा है। अकेले डार्विन महोदयके वैज्ञानिक तथ्योंने—प्राकृतिक चयन, (Natural Selection) जीवनके लिये संघर्ष (Struggle for Existence) और श्रेष्ठका ही जीवन, (Survival of the best) ने मानवको स्वार्थी बनानेमें पर्याप्त सहयोग दिया है। इसके अतिरिक्त, पाश्चात्त्य भौतिकवादी विचारधाराका भारतीय जनमानसपर प्रभाव भी कुछ कम नहीं रहा है। यही प्रकृत रोगका निदान है।

समाजके अङ्ग होनेके नाते विद्यार्थी इस विचार-धारासे अछूता न रह सका। संसद् और विधान-सभाओंमें यदा-कदा होनेवाले अशोभनीय, अनु-शासनहीन, उच्छृङ्खल क्रिया-कलाप भी अविकसित मस्तिष्कके छात्रोंपर कुछ कुसंस्कार छोड़ जाते हैं। कलाके नामपर हिंसायुक्त कामोद्दीपक अश्लील चल-चित्रोंके प्रदर्शन भी दुराचारका नग्न ताण्डव सिखला रहे हैं। ऐसे वातावरणमें अपनी उचितानुचित दोनों प्रकारकी माँगोंको मनवानेके लिये विद्यार्थी अध्यापकों, प्राचार्यों, शिक्षाविदोंके प्रति रोष प्रकटकर अशोभनीय व्यवहार करने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? अभिभावकोंकी अपनी बच्चोंके प्रति उदासीनता भी

बहुत हदतक अमर्यादित व्यवहारके लिये उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त मात्र वेतनके लिये काम करनेवाले अध्यापक भी शिक्षार्थियोंमें अशिष्ट आचरण बढ़ानेके लिये उत्तरदायी हैं। शिक्षक-शिक्षार्थी-सम्बन्धोंमें पचास प्रतिशत दशाओंमें अब ऐसी स्थिति आ गयी है कि शिक्षक विद्यार्थीकी भलाईके लिये उतना चिन्तित नहीं रहता, जितना उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट रखनेके लिये और टकराव (confrontation) बचानेके लिये। किंतु यदि—'सचिव बैद गुरु तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस'की स्थिति हो तो इस भूमिकामें विनाशका आह्वान स्पष्ट ही है।

अब आजकी स्थितिमें भी क्या सदाचरण-शिक्षण सम्भव है, यह प्रश्न है। इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि हाँ, यह कठिन होते हुए भी सम्भव है। विद्यार्थियोंके हृदय एवं मस्तिष्कको कोई भी दिशा, विशेषकर स्वस्थ एवं रचनात्मक दिशा दी जा सकती है। मानवस्वभाव मूलतः लचीला है। हिटलरने द्वितीय महायुद्धके दौरान राष्ट्रवादके नामपर जो संगीत निकाला, उसकी लयपर समस्त जर्मनराष्ट्र नृत्य करने लगा! यद्यपि हिटलरका राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अस्वस्थ एवं अमाङ्गलिक था, तथापि उससे यह बात भलीभाँति सिद्ध होती है कि लोगोंके मस्तिष्कपर छाप डाली जा सकती है। विभिन्न विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयोंके कुशल अध्यापकों, प्राचार्यों और प्रबन्धकोंका यह अनुभव है कि सदाचारकी शिक्षा मानव-सामर्थ्यकी परिधिके अन्तर्गत है।

चरित्र-निर्माण एवं सदाचार-शिक्षणके लिये दो मुख्य बातें अपेक्षित हैं और यदि उनमेंसे एकको भी उपेक्षित किया गया तो कार्य या तो अपूर्ण रह जायगा अथवा परिणाम आशानुकूल न निकलेंगे। प्रथम बात है सामाजिक व्यवहारका शिक्षण (Training in Social behaviour) और द्वितीय है अनुपम, उत्कृष्टतम, सुन्दरतमके प्रति अदम्य अनुराग (Quest for excellenc, for the first rate)। सुन्दर, सौजन्यपूर्ण सामाजिक व्यवहारके प्रशिक्षणके प्रति सामान्यतः हम-सब उदासीन रहे हैं। व्यक्ति मूलतः स्वार्थी और स्वेच्छाचारी है। उसे शिष्ट सामाजिक व्यवहारका शिक्षण देना ही होगा, जिससे वह अपने परिवारका आदर्श सदस्य बन सके, समाजका अनुकरणीय सदस्य और समस्त विश्वका निदर्शन हो सके। यदि हम चाहते हैं कि वह व्यक्तिगत स्वार्थसे ऊपर उठकर परिवार, समाज, देश तथा विश्वके लिये जिये-मरे, आचरण करे तो उसे मानवजातिका अच्छा सदस्य बनाकर जीवन जीनेकी कलामें दक्ष करना ही होगा। इस दिशामें व्यक्तिको प्रत्येक चीज ही सीखनी है। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे यह नये सिरेसे सीखना होगा कि अन्योंकी स्वस्थ भावनाओं, इच्छाओं और अधिकारोंको पूर्ण आदर देते हुए वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थों, विचारों और इच्छाओंको किस प्रकार अनुशासनमें रखे। पर ये सामाजिक आदतें कैसे निर्मित की जायँ, कैसे विकसित की जायँ? इनके शिक्षणका एक ही मार्ग है—एक ऐसे वातावरणका निर्माण, तथा रहनेका अवसर प्रदान करना जहाँ स्वस्थ आदतें स्वतः विकसित होती हों। छात्रावासोंकी उचित व्यवस्था—ऐसी व्यवस्था जहाँ शिक्षार्थी अपने-आपको स्वयं अपनेसे बड़ी इकाईका सदस्य महसूस करते हुए उसके प्रति वफादारी और सेवाभाव सीख सकें और नरसरी स्कूलोंका सही शिक्षण। कैम्पोंमें दिया जानेवाला सामूहिक जीवन जीनेका संदेश, स्काउटिंगकी भावना अन्य युवक मूवमेंटमें दी जानेवाली शिक्षा विद्यार्थीमें सामाजिकताके संस्कारोंको विकसित कर सकती हैं।

यह सब सामाजिक व्यवहार एवं सदाचारकी शिक्षा अधूरी रह जायगी यदि व्यक्तिको साथ-ही-साथ इस बात की दीक्षा न दी जाय कि उसका लक्ष्य क्या हो।

सामाजिकताके साथ-साथ उसमें उत्कृष्टतम, सुन्दरतमके प्रति अदम्य अनुराग अनुप्राणित करना होगा। उसे यह स्पष्ट रूपसे बताना होगा कि अपने गुरुका, सही गुरुका चयन करके उसमें पूर्ण निष्ठासे सेवारत हो जाय। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि यह 'गुरु' शब्द अध्यापकका पर्याय नहीं, बल्कि यह 'गुरु' शब्द व्यापक रूपमें प्रयुक्त किया गया है। वह 'गुरुता' समाज-सेवा भी हो सकती है, कला, साहित्य, विज्ञान अथवा अन्य कोई मानसिक क्रिया भी हो सकती है। पूछा जा सकता है कि व्यक्तिने किसको अपना 'गुरु' बनाया है? और उसकी सेवाके लिये वह कितना तत्पर है? गुरु बनाने, अर्थात् लक्ष्य निर्धारित करनेके पश्चात् जीवनकी जिस भी परिस्थितिमें वह हो उसमें विशिष्टता, अनुपमता ही उसका आदर्श हो। सुन्दर कार्यको अभीष्ट बनाना, उसके प्रति समर्पित होना, निरन्तर प्रयत्नशील रहना आदर्श सामाजिक जीवन जीनेकी कला है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें खेलसे लेकर धर्मतक, बागवानीसे राजनीतितकमें श्रेष्ठता, उत्तरोत्तर उत्तमता और विशिष्टताकी खोज ही मानवका अभीष्ट होना चाहिये। यही यदि शिक्षणके क्षेत्रमें अवतरित होता अथवा नेताओंके जीवनमें फलीभूत होता तो कदाचित् महान् दार्शनिक एवं शिक्षाविद् डॉ० राधाकृष्णन्‌को यह न कहना पड़ता—

"What the leaders did, it was followed as an example. If there was anything worng with the students, we are guilty for it."

'विद्यार्थियोंके अनाचारके पीछे हम नेताओं तथा अध्यापकोंका आचार ही मूल कारण है।'

तथाकथित विद्यार्थी तथा शिक्षित कहे जानेवाले व्यक्तियोंद्वारा की गयी चोरी, डकैती, आगजनी, घूसखोरी तथा स्त्रियोंके प्रति किये जानेवाले अभद्र व्यवहार शिक्षाकी वर्तमान स्थितिका पर्दाफाश करती है। कहना न होगा कि एक अनपढ़, किंतु सच्चरित्र एवं सदाचारी व्यक्ति अधिक श्रेष्ठ है, अपेक्षाकृत ऐसे हजारों डिग्रीधारी व्यक्तियोंके, जो चारित्रिक मेरुदण्डविहीन हैं—

An illiterate with the strength of character is far better than a thousand of M. As with no moral backbones.

विशिष्टता और श्रेष्ठताका शिक्षामें आगमन एवं अनुगमन कैसे हो? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसके लिये व्यक्ति-मात्रको अपने-अपने कार्यक्षेत्रमें विशिष्ट बननेके लिये सुन्दर-तम तरीके मालूम होने चाहिये। उसे अपनी व्यावसायिक कुशलता एवं निपुणतापर गर्व होना चाहिये। उसे राष्ट्रिय जीवनके उदात्त तथा अनुपम तत्त्वोंका भी समुचित ज्ञान होना आवश्यक है। उसकी महत्त्वाकाङ्क्षा उत्कृष्ट हो, साथ ही उसे यह भी जानकारी हो कि मानव-चरित्र और आचरणमें सर्वोत्तमका सिद्धान्त है—

'परहित सरिस धरम नहिं भाई।
पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥'

धार्मिक एवं आध्यात्मिक साहित्यका अनुशीलन व्यक्तिको सदाचारी बनानेमें सहायक हो सकता है। धर्म निरपेक्षका अर्थ यह नहीं कि भारतकी धार्मिक एवं सांस्कृतिक सम्पदा—'वेद', 'उपनिषद्', 'पुराण', 'रामायण', 'महाभारत', 'मनुस्मृति', 'रामचरितमानस'से मुँह मोड़ लिया जाय। वस्तुतः इन धार्मिक, नीतिपूर्ण, शिक्षाप्रद ग्रन्थोंके श्रेष्ठ अंशोंका समावेश पाठ्यक्रमोंमें किया जाना समयकी आवश्यकता है। इन अमूल्य ग्रन्थोंकी शिक्षाप्रद गाथाएँ मानवकी, विशेषकर तरुण विद्यार्थियोंकी उगती हुई पीढ़ीको अनुप्राणित कर सदाचारी बनानेमें सहायक हो सकती है। पाठ्यक्रमोंमें भारतीय संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करनेवाले इन धार्मिक-सामाजिक ग्रन्थोंके अंशोंका समावेश एक ओर भारतीयोंके पश्चिमके अंधानुकरणको रोकेगा तो दूसरी ओर विद्यार्थी एवं शिक्षक-वर्गमें भारतीय सभ्यता और संस्कृतिके प्रति स्वाभिमान जाग्रत करेगा। ऐसे साहित्यका अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन निःसंदेह आधुनिक शिक्षाको सच्चरित्रता प्रदान करेगा। यही उत्तम उपाय है।

राजस्थानके लोकसाहित्यमें नीतितत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीमनोहरजी शर्मा)

वीरभूमि राजस्थानके महिमामय इतिहासपर सम्पूर्ण भारत देश गौरव अनुभव करता है और यह गौरवानुभूति यथार्थ भी है। यहाँके ऐतिहासिक नर-नारियोंको स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य कार्य करने-हेतु यहाँके साहित्यने ही प्रेरणा दी है, जिसकी ओर अद्यावधि समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। पद्मिनी, जसमादे, प्रताप और दुर्गादास-जैसे अगणित महामानवोंका निर्माण यहाँके साहित्यकी प्रेरणासे ही हुआ है, जिसे वे समय-समयपर जन्मभर ग्रहण करते रहे हैं। फलतः सम्पूर्ण देशको चारित्र्य-सम्पन्न बनाने-हेतु राजस्थानी साहित्यकी परमोपयोगिता स्पष्ट है। राजस्थानी साहित्यका वह अंश विशेष ध्यान देने योग्य है, जो यहाँके लौकिक जीवनमें व्याप्त है और समय-समयपर प्रेरणा देनेहेतु जिसका कहावतके समान प्रयोग होता रहता है। यहाँ उसके कुछ ऐसे चुने हुए नमूने दिये जाते हैं, जो प्रबल प्रेरणादायक होनेके साथ ही अत्यन्त रोचक भी हैं। विशेषता यह है कि ये सर्वथा सुबोध एवं सरल हैं। सर्वप्रथम शील-महिमाके सम्बन्धमें लोक-प्रचलित राजस्थानी दोहे देखिये—

सील सरीरह अभ्भरण, सोनो भारिम अंग।
मुख-मण्डण सचउ वयण, विण तम्बोलह रंग॥

'असलमें शील ही वास्तविक अलंकार है, सोना तो शरीरके अङ्गोंपर पड़ा हुआ भार है। मुखकी शोभा सत्य वचन है, न कि ताम्बूलसे उसे रँगना।'

सत मत छोडो हे नराँ, सत छोड्याँ पत जाय।
सत की बाँधी लिच्छमी, फेर मिलेगी आय॥

'अरे लोगो, सत्य अर्थात् सन्मार्गको कभी मत छोड़ो, सन्मार्गको छोड़नेसे प्रतिष्ठा समाप्त हो जाती है। यदि सन्मार्गपर दृढ़ रहे तो उसके प्रभावसे गयी हुई लक्ष्मी फिर वापिस मिल जायगी।'

प्रत्येक प्रदेशके कुछ विशेष आदर्श होते हैं, जिनके अनुसार जीवन-यापन करना मानव-जीवनका उद्देश्य माना जाता है और उनकी प्राप्तिमें ही जीवनकी सफलता समझी जाती है। निश्चय ही ऐसे 'आदर्श चारित्र्य-पालनके प्रकाशमान दिव्य संकेत हैं। इस विषयमें राजस्थानके एक लोक-प्रचलित दोहेमें कहा गया है कि 'यदि किसीकी धरती छीनी जाती हो, यदि किसीका जबरन धर्म-परिवर्तन किया जाता हो और यदि किसी भी नारीको कोई दुष्ट सताता हो तो कोई राजा हो अथवा रंक, उसके लिये प्राण-विसर्जनके ये तीनों शुभ अवसर हैं।'

रण-चढण, कंकण-बंधण, पुत्र-बधाई चाव।
ये तीनूं दिन त्याग रा, कहा रंक, कहा राव॥

'जब कोई व्यक्ति रणक्षेत्रमें जाता हो अथवा जब घरमें विवाहका माङ्गलिक कार्य सम्पन्न हो रहा हो या जब पुत्र-प्राप्तिका बधाई-संदेश सुनाया जाता हो तो राजा अथवा रङ्क सबके लिये ये तीनों त्याग अर्थात् दानके शुभ अवसर हैं।'

केहरी केस, भुजंग मिण, सरणाई सुहडाह।
सती पयोधर, कृपण धन, पडसी हाथ मुवाँह॥

'सिंहके केश, नागकी मणि, शूरवीरका शरणागत व्यक्ति, सतीके पयोधर (स्तन) और कृपणका धन उनके जीवित रहते किसीके हाथमें नहीं आ सकते। ये तो उनके मरनेपर ही प्राप्त हो सकते हैं।'

राजस्थान सदासे वीर-भूमि और त्याग-भूमि रहा है। अतः यहाँकी लौकिक साहित्य-सामग्रीमें शौर्य और

त्यागका संदेश व्याप्त होना सर्वथा स्वाभाविक है। उदाहरण देखिये—

जननी जण ऐहड़ा जणे-के दाता के सूर।
नातर रहजे बाझड़ी, मती गमाजे नूर॥

'कोई भी माता ऐसी ही संतानको जन्म दे जो या तो वीर हो अथवा दानी हो। यदि संतान ऐसी न हो तो जननीका वन्ध्या रहना ही अच्छा है। असत् संतानको जन्म देकर यौवनका सौन्दर्य नष्ट करना उचित नहीं।'

कहा लंकपत ले गयो, कहा करण गयो खोय।
जस जीवन, अपजस मरण, कर देखो सब कोय॥

'लंकापति रावण अपने साथ क्या ले गया और महारथी कर्णने संसारमें क्या खोया? रावणने स्वर्णमयी लंकाका स्वामी होनेपर भी अपयश प्राप्त किया और महारथी कर्णने स्वर्णका दान करके संसारमें यश प्राप्त किया। कोई भी करके देख ले, यश और अपयश ही तो जीवन और मृत्यु हैं।'

सदाचारमें परमार्थका ऊँचा स्थान है। सदा परमार्थका ध्यान रखनेवाला व्यक्ति ही उच्च कोटिका सदाचारी है। इस विषयमें एक दोहा प्रसिद्ध है।

सरुवर, तरुवर, संत जन, चौथो बरसण मेह।
परमारथ रे कारणै, च्यारों धारी देह॥

'सरोवर, तरुवर, संतजन और जल बरसानेवाला बादल—ये चारों परमार्थके लिये ही उत्पन्न होते हैं।'

घर-कारज सीलावणा, पर कारज समरत्थ।
जां नैं राखै सांइयां, आडा दे दे हत्थ॥

'जो व्यक्ति अपने घरके कार्यमें भले ही ढील कर दे, परंतु दूसरोंका काम पूरा करनेमें कभी देर नहीं करते, ऐसे व्यक्तियोंको भगवान् संसारमें दीर्घ-जीवन प्रदान करें।' (परोपकारीकी कैसी महिमा है।)

चन्दण, चन्द, सुमाणसां, तीनूं एक निकास।
उण घसियां उण बोलिया, उण ऊगा होय उजास॥

'चन्दन, चन्द्रमा व सज्जन इन तीनोंकी उत्पत्तिका मूल स्थान एक ही है। इनके क्रमशः घिसनेपर, उगनेपर और बोलनेपर चतुर्दिक् प्रकाश हो जाता है।'

कर्मवीरके जीवनमें उद्यमका भी ऊँचा स्थान है। बिना उद्यम किसीको भी अपने जीवनमें सफलता नहीं मिल सकती। इस विषयमें राजस्थानी दोहा देखिये—

राम कहे सुग्रीव नैं, लंका केती दूर।
आलसियाँ अलघी घणी, उद्यम हाथ हजूर॥

'रामचन्द्रजीने सुग्रीवसे पूछा—'लंका कितनी दूर है?' इसपर सुग्रीवने तत्काल उत्तर दिया—'आलसीके लिये तो वह बहुत दूर है, परंतु उद्यमीके लिये वह मात्र एक हाथकी दूरीपर ही है।'

सुख-सम्पत अर औदसा, सब काहू के होय।
ज्ञानी काटै ज्ञान सूं, मूरख काटै रोय॥

'सुख-सम्पत्ति और बुरे दिन तो समयानुसार सभी लोगोंके सामने आते रहते हैं, परंतु ज्ञानी व्यक्ति बुरे दिन ज्ञानसे काटता है और मूर्ख रोकर काटता है।'

सदाचारमें प्रतिज्ञा-पालनका भी विशेष स्थान है। सदाचारी व्यक्तिको कितना भी कष्ट उठाना पड़े, परंतु अपनी मर्यादाको नहीं छोड़ता—

हंसा आ ही अक्खड़ी, छीतर जल न पियंत।
का तो पीये मानसर, का तरसिया मरंत॥

'हंसकी यह प्रतिज्ञा होती है कि वह छिछले तालका पानी नहीं पीता। वह तो मानसरोवरका जल ही पीता है—अन्यथा प्यासा ही घूमता रहता है।'

भल्ला जो सहजे भला, भूँडा किम हिंन हुंत।
चन्दन विसहर ढंकिऊं परिमल तउ न तजन्त॥

'जो भोले होते हैं, वे स्वभावसे ही भले होते हैं। वे किसी भी परिस्थितिमें बुरे नहीं बनते। चन्दनमें सर्प लिपटे रहते हैं; परंतु वह अपना सुवास कभी नहीं छोड़ता।'

सदाचारमें प्रेम-भावका बड़ा महत्त्व है। प्रेम और

सम्मान सदाचारी व्यक्तिके जीवनके अंग होते हैं। इस विषयमें भी राजस्थानका दोहा प्रसिद्ध है।

संत प्रीत जासौ करै, अवस निभावै अन्त।
बोल बचन पलटै नहीं, गिरा रेख गजदन्त॥

'संतजन जिससे प्रेम करते हैं, उसका अन्ततक निर्वाह करते हैं। वे एक बार जो वचन मुखसे निकाल देते हैं, उसको कभी नहीं पलटते। उनकी वाणी हाथी-दाँतपर खिंची हुई रेखके समान होती है।'

कद सबरी चौका दिया, कद हरि पूछी जात।
प्रीत पुरातन जाणकर, फल खाया रघुनाथ॥

'शबरीने अपनी कुटियाको चौका देकर पवित्र कब किया था और भगवान् रामचन्द्रने उसको अपनी जाति बतलानेके लिये कब कहा था? पुरातन प्रीतिके कारण ही तो रामचन्द्रजीने उसके जूठे बेर खाये थे।'

धर्माचरण ही वास्तवमें सदाचार है। इस विषयका एक लौकिक दोहा देखिये—

साईं सूँ सांचा रहो, बन्दा सूँ सत भाव।
भावूं लाम्बां कैस रख, भावूं घोट मुंडाव॥

'भगवान्‌के प्रति सच्चा रहना चाहिये और भगवान्‌के भक्तोंके प्रति सदैव सद्भावना रखनी चाहिये। इतना होनेपर चाहे कोई लम्बे केश धारण करे अथवा मुण्डित मस्तक रहे, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।'

जात वलै नहीं दीहड़ा जिम गिर-निरझरणांह।
उठरे आतम, धरमकर, सुवै निचंता काह॥

'जिस प्रकार पहाड़के झरने बह जानेके बाद वापिस लौटकर नहीं आते, उसी प्रकार बीते हुए दिन लौटकर नहीं आते। ऐसी हालतमें हे आत्मन्! तुम कभी निश्चिन्त होकर मत सोओ, परंतु हर समय धर्मका आचरण करते रहो।'

सदाचारहेतु जिस प्रकार सद्गुणोंका संग्रह आवश्यक है, उसी प्रकार दुर्व्यसनोंका कठोरतापूर्वक निषेध भी जरूरी है। इन दुर्व्यसनोंमें परनारी-प्रसंग, मद्यपान, द्यूत-कर्म, मांसाहार आदि दुर्गुण सर्वथा निन्दनीय हैं। इस विषयमें कहा गया है—

दारू परदारा दुहूँ है तन धन री हान।
नर सांप्रत देखो नजर, नफो और नुकसान॥

'शराब और परायी स्त्री—इन दोनोंसे शरीर तथा धन दोनोंकी हानि होती है। कोई भी व्यक्ति इस विषयमें हानि है अथवा लाभ है, यह प्रत्यक्ष देख सकता है।'

जीव मार हिंसा करे, खाता करे बखाण।
पीपा, परतख देख लो, थाली मांय मसाण॥

'किसी जीवकी हत्या करके उसके मांसको खाते समय सराहना करना बड़ा आश्चर्यजनक है। ऐसे व्यक्तिकी थालीमें तो प्रत्यक्ष ही श्मशान उपस्थित रहता है।'

वेस्या-नेह, जुवार-धन, काती-अंबर छार।
पाछल-पौर कुपूत घर, जात न लागे बार॥

'इन सबको समाप्त होते देरी नहीं लगती—वेश्याका प्रेम, जुआरीका धन, कार्तिकके बादल, दिनका पिछला पहर और कुपुत्रका घर।'

इन लौकिक दोहोंपर ध्यान देनेसे सदाचारका एक ऐसा वातावरण सहज ही सामने आ जाता है, जो जन-साधारणको हर समय सन्मार्गपर चलनेहेतु प्रेरणा देता है। ऐसी स्थितिमें इस लौकिक साहित्य-सामग्रीका असाधारण महत्त्व है। इसमें ओज-तेजके साथ ही सात्त्विकता और सरलता भी समन्वित है। कहना न होगा कि ऐसी सामग्रीने ही राजस्थानके इतिहासका निर्माण किया है और यह सम्पूर्ण जन-समाजके लिये नितान्त उपयोगी है।

शिष्टाचारके कतिपय सूत्र

(पूर्वानुगत)

३१—अपनी सम्बन्धिनी स्त्रियोंके सिवा किसी स्त्रीसे बातचीत करनी हो तो नीची आँखें कर बातें करनी चाहिये—विशेषकर युवती स्त्रियोंसे तो और शालीनता बरतनी चाहिये । स्त्रियोंकी ओर टकटकी लगाकर देखना, घूरना या उनका स्पर्श करना अशिष्टता है । अपनी पत्नीके भी कंधेपर हाथ रखकर या हाथ-में-हाथ मिलाकर चलना अशिष्टाचार है ।

३२—किसी विशिष्ट महिलाको यदि सम्मानमें माला पहनानी हो तो छोटे बच्चों या बच्चियोंसे पहनवावे अथवा उनके हाथमें माला दे दे, वे स्वयं पहन लेंगी । इसी प्रकार किसी पुरुषको माला पहनानेके समय स्त्रियोंको भी वैसा ही करना चाहिये ।

३३—स्त्रियों, बच्चों और नौकरोंको शारीरिक दण्ड कदापि नहीं देना चाहिये । उनके दोष सबके सामने प्रकट करना अशोभनीय है । भारतीय शिष्टाचारमें नारियोंकी सत्कृति विहित है—

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।'

३४—भारतीय संस्कृतिमें बच्चोंके नाम रखनेकी एक सुन्दर प्रक्रिया और परम्परा है । विधिपूर्वक मङ्गल-सूचक शुभाक्षरोंसे युक्त नाम रखने चाहिये । भारतीय परम्पराके विरुद्ध विदेशी अथवा निरर्थक शब्दोंका नाम रखनेका प्रचलन रोकना चाहिये । पप्पू, पिन्टू, डीट्टू, कुण्टू, पिंकू आदि नाम तथा 'पप्पा', 'मम्मी' आदि सम्बोधन भारतीय शिष्टाचारके अनुरूप नहीं हैं । (नाम-सौन्दर्य बँगाली बन्धुओंमें दर्शनीय है ।)

३५—बच्चे चाहे जिसके हों, उन्हें स्नेह और प्यार देना चाहिये । धूल-धूसरित बच्चे भी—'बाल-गोपाल' हैं । उनकी शुद्धताके भीतर महासती मदालसाके शब्दोंकी चरितार्थता देखी जा सकती है—

'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।'

३६—किसी मित्र या सम्बन्धीको भोज देनेपर उनके बाल-गोपालको भी बुलावा देना चाहिये । साथमें आये भृत्य-सेवकका भी वैसा ही सत्कार करना चाहिये । दूसरेको भोजन कराना बड़े भाग्यकी बात होती है । भारतीय संस्कृति और शिष्टाचारमें भोजन करना और कराना प्रीतिका लक्षण है—

'भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम् ।'

३७—गृहपतिको चाहिये कि सबके भोजन कर लेनेपर स्वयं भोजन करे । सबसे पहले बच्चों, विवाहित पुत्रियों, नवागत वधुओं और गर्भवती स्त्रियों तथा अति वृद्धों एवं रोगियोंको भोजन कराना चाहिये ।

३८—किसीके यहाँ अतिथि (मेहमान) बननेपर चलते समय उसके बच्चों या नौकरोंको कुछ पुरस्कार देना चाहिये । इसी प्रकार सामान लानेवालेको भी 'विदाई' देनी चाहिये । (सामान यदि खाद्य पदार्थ है तो उसमेंसे कुछ देना उत्तम होता है ।)

३९—नौकर, हजाम, धोबी आदिसे अनावश्यक बातें नहीं करनी चाहिये । उनसे अन्य लोगोंके घरोंकी बातें अथवा भेद पूछना शिष्टता नहीं है । वैसी बातें सुननी भी नहीं चाहिये ।

४०—नौकरोंको भोजन-विश्रामका उपयुक्त स्वतन्त्र समय देना चाहिये । आर्थिक स्थितिकी दुर्बलतासे ही उन्हें नौकरी करनी पड़ी है—इसे सदा ध्यानमें रखना चाहिये; आखिर वे भी हमारे-जैसे ही मनुष्य हैं ।

४१—किसीको कुछ देना हो अथवा किसीसे कुछ लेना हो तो उसे दायें हाथसे ही देना-लेना चाहिये । बायें हाथसे लेना या देना अशिष्टता है । (किंतु जूते

आदि दाहिने हाथसे पहनना अथवा लेना नहीं चाहिये, शौच-शुद्धि भी बायें हाथसे ही करनी चाहिये ।)

४२—जबतक किसीसे कोई भारी अपराध—(१) जान-बूझकर कर्तव्यहीनता, (२) अधिकारीकी अवज्ञा और (३) चारित्रिक गंभीर दोष न हो जाय, किसीकी रोजी-रोटी न ले, न उसके लिये प्रयास या प्रयत्न ही करें । अपने अपकारीके प्रति भी प्रतिशोध-भावना न रखे; क्योंकि निश्चित है (जैसा कि किसीने कहा है) कि—

अपने करत जाइ अपकारी । मुनि के छमा साप ते भारी ॥

४३—गोष्ठी या समाजमें डकार लेना, खखारना, जीभ निकालना, नाकमें अँगुली डालना, जम्हाई लेना, पैर फैलाकर बैठना या पैर हिलाते रहना, अँगुली चटकाना, दाँतसे नाखून काटना, कपड़ा चबाना, मुँह खोलकर ताम्बूल-सुपारी आदि खाना, काना-फूसी करना, अँगड़ाई लेना, कानमें अँगुली या कलम डालना, आलपीनसे दाँत या कानकी मैल निकालना आदि बुरा समझा और माना जाता है । (जम्हाई, खाँसी या छींक आवे तो मुँहपर हाथ या रूमाल रख लेना चाहिये । नाक बहती हो तो साफ कर लेनी चाहिये । हिचकी आवे तो गोष्ठी या सभा-समितिसे बाहर जाकर पानी पी लेना चाहिये अथवा हिचकी रोकनेका अन्य उपाय कर लेना चाहिये ।)

४४—गाड़ीवान, दूकानदार, रिक्शे-ताँगेवालोंसे लेन-देनके लिये 'झौं-झौं' नहीं करना चाहिये । ऐसे लोगोंको तय हुए अनुसार उचित पैसा दे देना चाहिये । एक-दो पैसे अधिक भी चले जायँ तो गरीबोंकी सहायता मानकर छोड़ देना चाहिये ।

४५—जहाँ टिकट लगता हो—रेलवे प्लेटफार्म, खेल-तमाशेके स्थान आदिपर भी—बिना टिकट न जाय, यात्रा तो बिना टिकट कभी न करे । टिकट-जाँचकर्त्ताओंसे भद्र व्यवहार करना चाहिये और उनके माँगनेपर टिकट दिखला देना चाहिये । शालीनता-शिष्टतासे वे यात्रामें वाञ्छित सुविधाका निर्देश करेंगे ।

४६—जिस समूहमें भिन्न-भिन्न मातृ-भाषावाले हों वहाँ ऐसी भाषामें बोलना चाहिये जिसे अधिकतर लोग समझते हों । किसीसे बातचीतमें उसकी भाषामें बातचीत करना समीचीन समझा जाता है ।

४७—बिना पूछे राय देने, दवा बताने और व्यर्थमें परिचय पूछनेकी—स्वभावजात चञ्चलतासे शिष्टतामें कमी आती है । अतः अत्यावश्यक होनेपर ही इनका प्रयोग करना चाहिये ।

४८—जहाँ अनेक लोग हों वहाँ अपनी ही बात धुनते जाना अभद्रता है । अपने रोजगारी, शेखी, कला-कौशल और मान-बड़ाईकी बातोंसे दूसरोंपर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता । सत्य, मित, हितभाषिताका सर्वदा ध्यान रखना चाहिये; शिष्टाचारके ये तीनों संजीवन हैं ।

(क्रमशः)

झूँठो सुख-संजोग

जगतमें सकल बटाऊ लोग ।
कोइ आवत कोइ जात यहाँ ते, झूँठो सुख संजोग ॥
भुगते करम भरम चौरासी, जनम मरन दुख रोग ।
जो उपजे सो निश्चै विनसे, काको कीजे सोग ॥
करे भजन निष्काम श्यामको, फिर नहिं होत वियोग ।
'सरसमाधुरी' सत्य कहत हैं, करे अमर पुर भोग ॥

—संत सरसमाधुरी

अमृत-बिन्दु

भगवान्‌की दयाके रहस्यको समझनेसे शोक, भय और चिन्ताका अत्यन्त अभाव होकर सदाके लिये परम शान्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है ।

× × × ×

जैसे पैसेकी उपयोगिता समझी हुई है, वैसे ही यदि समयकी उपयोगिता समझी गयी होती तो भूलकर भी हमारा एक क्षणका समय ईश्वर-स्मरणके बिना नहीं बीतता ।

× × × ×

जब मनुष्य-शरीर मिल गया, तब (समझ लेना चाहिये कि) सामान्य रूपसे मुक्तिके अधिकारी तो हम हैं ही ।

× × × ×

सारे संसारका प्रेम एक जगह एकत्र किया जाय तो भी वह भगवत्प्रेमसागरकी एक बूँदके समान भी शायद ही हो ।

× × × ×

जैसे न्यायकारी, दयालु राजा अपराध करनेवाली प्रजाको दण्ड भुगताकर निरपराध कर देता है, वैसे ही परम दयालु परमात्मा कृपापूर्वक पापी मनुष्योंको दुःख भुगताकर पवित्र कर देते हैं ।

× × × ×

हमारे पास पथ-प्रदर्शक रूपमें गीतादि शास्त्रोंके रहते हुए भी यदि हमारी दुर्गति हो तो यह बड़ी लज्जाकी बात है ।

× × × ×

नित्य कर्ममें भगवान्‌के नामका जप और ध्यान तथा कम-से-कम गीताके एक अध्यायका पाठ अवश्य ही सम्मिलित करना चाहिये ।

× × × ×

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी इच्छा तो कभी करनी ही नहीं चाहिये और अपने आप इनके प्राप्त होनेपर भी इन्हें आत्मकल्याणमें बाधक समझकर स्वीकार नहीं करना चाहिये ।

× × × ×

साकार भगवान् नेत्रोंसे देखे जाते हैं, सगुण-निराकार बुद्धिद्वारा समझे जाते हैं और निर्गुण-निराकार, करणनिरपेक्ष अनुभवसे प्राप्त किये जाते हैं ।

× × × ×

शरणागतिके मार्गपर चलनेवाले साधकके हृदयमें भगवत्कृपासे दुर्गुण और दुराचार स्वतः ही नष्ट होते जाते हैं ।

× × × ×

धनकी प्राप्तिमें भाग्य- (प्रारब्ध) उद्योग और चाहकी प्रधानता है; जब कि भगवत्प्राप्तिके लिये चाहमात्रकी आवश्यकता है । अतः धनकी अपेक्षा भगवत्प्राप्ति सहज है ।

× × × ×

कर्तव्य-पालनसे पुण्य होता है—पुण्य नाम पवित्रताका है । जो जिस जगह है वह वहीं अपने कर्तव्यका पालनकर महान् पवित्र बन सकता है ।

× × × ×

साधकको दृढ़निश्चय करना चाहिये कि मुझे क्रिया और पदार्थजन्य सुख नहीं लेना है । क्योंकि किसी भी हालतमें यह सुख रहनेवाला नहीं है ।

(संकलित)
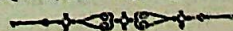
पढ़ो, समझो और करो

(१)

'हमारे प्रभु औगुन चित न धरौ'

[स्वामी विवेकानन्दके जीवनकी एक मर्मस्पर्शी घटना]

स्वामी विवेकानन्दजीका प्रथम—संन्यासकालका नाम विविदिषानन्द था। उनका नाम विवेकानन्द खेत्री (खेतड़ी)के राजाके आग्रहपर ही पड़ा (Comprehensive Biography I, Page 316)। वे (स्वामीजी) सच्चे अर्थमें कर्मयोगी थे तथा परमहंस रामकृष्णके परम प्रिय शिष्य एवं प्राच्य-पाश्चात्त्य दर्शन एवं वेदान्तके धुरंधर विद्वान् थे। उनकी जीवनी अनेक लोगोंने लिखी है। पर सभीके अनुसार खेत्री (खेतड़ी)की एक घटनाने ही उनके जीवनमें अत्यधिक प्रभावशाली मोड़ दिया। उनके अमेरिकन शिष्य इदा अनसेलके अनुसार यहाँ वह घटना दी जा रही है।

स्वामी विवेकानन्द खेत्रीके राजा अजितसिंहके गुरु थे। एक बार जब राजा और उनके दरबारी लोग एक वाटिकामें बैठे थे तो राजा साहबको कुछ उदासी प्रतीत हुई। उन्होंने एक वृद्धा गायिकासे, जो संगीतमें अत्यन्त निपुण थी, गानेको तैयार होनेको कहा। इधर उन्होंने स्वामीजीको भी बुला भेजा। स्वामीजी आये ही थे कि गायिकाने गाना आरम्भ किया। स्वामीजी संन्यासीके शिष्टाचारके अनुसार वहाँसे झट उठकर चल दिये; पर वह गाती रही। उसका गाना था—सूरदासजीका प्रसिद्ध भजन—

हमारे प्रभु, औगुन चित न धरौ।
समदरसी है नाम तुम्हारौ, सोई पार करौ॥
इक लोहा पूजा मैं राखत, इक घर बधिक परौ।
सो दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरौ॥
इक नदिया इक नार कहावत, मैलौ नीर भरौ।
जब मिलि गए, तब एक-बरन ह्वै, गंगा नाम परौ॥
तन माया, ज्यौं ब्रह्म कहावत, सूर सु मिलि बिगरौ।
कै इनकौ निरधार कीजियै कै प्रन जात टरौ॥

'मेरे स्वामी! मेरे दुर्गुणोंपर ध्यान मत दीजिये। आपका नाम समदर्शी है, उस नामके कारण ही मेरा भी उद्धार कीजिये। (देखिये!) एक लोहा पूजामें रखा जाता है (तलवारकी पूजा होती है) और एक लोहा (छुरी) कसाईके घर पड़ा रहता है, किंतु (समदर्शी) पारस इस भेदको नहीं जानता, वह तो दोनोंको ही (अपना स्पर्श होनेपर) सच्चा सोना बना देता है। एक नदी कहलाती है और एक नाला, जिसमें गंदा पानी भरा रहता है, किंतु जब दोनों (गङ्गाजीमें) मिल जाते हैं, तब उनका एक-सा रूप होकर गङ्गा नाम पड़ जाता है। (इसी प्रकार) सूरदासजी कहते हैं—यह शरीर माया (मायाका कार्य) और जीव ब्रह्म (ब्रह्मका अंश) कहा जाता है, किंतु मायाके साथ तादात्म्य हो जानेके कारण वह (ब्रह्मरूप जीव) बिगड़ गया (अपने स्वरूपसे च्युत हो गया।) अब या तो आप इसको ज्ञान प्रदान कर जीवकी अहंता-ममता मिटाकर उसे मुक्त कर दीजिये नहीं तो आपकी (पतितोंका उद्धार करनेकी) प्रतिज्ञा टली (मिटी) जाती है।'

कहते हैं, स्वामीजी बाहर जाकर गीतके शब्दोंको सुनकर रुक गये और उनके दोनों नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे। वे फिर गीतके अन्तमें लौटे और गायिकाको बहुत सान्त्वना दे, उसे अपनी शिक्षिका गुरु तथा माता मान लिया। वह स्त्री भी उन्हें 'लाल' या पुत्र नामसे पुकारती रही। इसके बादसे ही उनका जीवन-क्रम बदला तथा सभी सफलताएँ प्राप्त हुईं। खेत्रीकी इस घटनाका प्रभाव उनके जीवनपर अन्ततक था तथा वे

इसकी निरन्तर चर्चा करते रहे। (The life of Swami Vivekananda II. 154, Comprehensive Biography of Swami Vivekananda, Vol. I, P. 388—90)

—पं० जा० ना० शर्मा

(२)

गरीब किंतु ईमानदार

१६ जनवरी, ७८को मैंने बैंकसे दो सौ रुपये निकाले। इनमेंसे मैंने एक सौ रुपये बैंककी पासबुकमें रखकर शेष एक सौ रुपये खर्च-हेतु ऊपर ही जेबमें रख लिये और जल्दीसे घरकी ओर चल दिया, क्योंकि घरपर मेरी पूज्य माताजी बीमार थीं; उनकी देखभाल करनी थी।

दूसरे दिन प्रातः इब्राहीम नामक सज्जन, जो ठेलेपर जूते-चप्पल बेचनेका साधारण व्यवसाय करते हैं, मुझे ढूँढ़ते हुए घर आये। मेरा नाम, पिताका नाम आदि पूछ लेनेके बाद बोले—'यह लीजिये आपकी डायरी जो मुझे बैंकके सामने ही रास्तेपर पड़ी मिली है और यह सौ रुपयेका नोट भी है, यह भी इसीमें रखा था।'

मैं अवाक् रह गया। पारितोषिकके रूपमें मैंने उनसे इनमेंसे इच्छानुसार रुपये रख लेनेका आग्रह किया; किंतु उन्होंने कुछ भी लेनेसे साफ इन्कार कर दिया और कहा—'मुझे तो इसीमें खुशी है कि आपकी वस्तु आपको मिल गयी।' 'ठेलेपर कोई नहीं है' यह कहते हुए चले गये। चाय पीनेका मेरा आग्रहतक उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

मैं बारंबार उन्हें धन्यवाद देता ही रह गया। आज भी सोचता हूँ कि अभावोंके बीच जीते हुए भी ऐसे लोग कितने ईमानदार हो सकते हैं। आजके जमानेमें ऐसे लोग बिरले ही हैं, किंतु धर्म और नैतिकता टिकी ऐसे ही लोगोंपर है।

—श्रीताराचन्दजी बुन्दीवाल

(३)

संकटमोचन कृपानिधान

१९ फरवरी १९७७ शनिवार शामको ५ बजेकी बात है। मेरी छः वर्षीय पुत्री रेखाके हाथमें एक तागा बँधा था। वह उस तागेको चाकूसे काटना चाहती थी। दैवयोगसे तागा न कटकर झटकेके साथ चाकू आँखके अन्दर चला गया। उसे मेडिकल कालेज ले जाया गया। वहाँ डाक्टरने कहा कि इसकी आँख निकालनी पड़ेगी, क्योंकि आँखके टुकड़े हो गये हैं। मैंने डॉक्टर अरुण कुमार सूदसे प्रार्थना की कि आप कृपया इसकी आँख न निकालें। अभी आप आपरेशन ही कर दें। आगे भगवान् मालिक हैं। मेरी अनुनय-विनयका डॉक्टरपर प्रभाव पड़ा। उन्हें दया आयी और उन्होंने दो डाक्टरोंको बुलाकर बच्चीको बेहोश करके आपरेशनकी आवश्यक व्यवस्था करनेको कहा। रातमें ९-३० बजे आपरेशन आरम्भ हुआ और १०-३० बजे रेखा बेहोशीकी हालतमें आपरेशन थियेटरसे बाहर लायी गयी। २० फरवरीको सायंकाल उसको होश आया। आठ दिन बाद जब डॉक्टरने उसकी आँखकी पट्टी खोलकर देखा तो कहा कि भगवान्की कृपासे आँख ठीक है, किंतु रोशनी आना असम्भव है।

मेरे इष्टदेव परमपूज्य पवनकुमार—हनुमान्जी महाराज हैं। मैं विगत २२ वर्षोंसे मेंहदीपुर-बालाजी (जयपुर—राजस्थान) प्रायः बराबर जाता हूँ। वहाँके हनुमान्जी महाराजके अनेक चमत्कार और अद्भुत लीलाएँ इन पंक्तियोंके लेखकको प्रत्यक्ष अनुभूत हैं। उस समय मेरे कुछ मित्र होलीके उत्सवपर बालाजी जा रहे थे। मैंने उनसे प्रसाद चढ़ाने तथा जो प्रसाद वहाँसे मिले वह लाकर मुझे देनेके लिये कहा। जब प्रसाद आया तो मैंने वह बच्चीको खिला दिया। २५ दिन बाद उसे मेडिकल कालेजसे छुट्टी मिल गयी। पश्चात्

मैंने अलीगढ़, सीतापुर एवं दिल्लीके डॉक्टरोंको दिखाया, उन्होंने बताया कि आँखमें मोतियाबिन्द उतर आया है । अतः फिर आपरेशन कराना पड़ेगा । दूसरा आपरेशन मेरठमें २०-४-७७को डॉ० सूदने किया । दिनाङ्क २२-४-७७को आँखकी पट्टी खोली गयी । आँखकी स्थिति अच्छी नहीं थी । फिर भी मैंने डॉ०से कहा कि इसकी आँख अवश्य ठीक हो जायेगी । मुझे अपने परम कृपालु बालाजी-(हनुमान्‌जी) की कृपापर पूर्ण विश्वास है । भगवान् नारायण एवं हनुमान्‌जी महाराजसे मैं नित्य नियमित निरन्तर यह प्रार्थना करता रहता था कि इसकी आँखकी ज्योति पूर्ववत् लौट आवे । उस रात ९ बजे भगवत्-चिन्तन करते हुए मैं चिन्तामग्न-सा बैठा था, तभी अचानक मेरी नाकसे लगभग ५०० ग्राम रक्त निकल गया और मैं सम्भवतः कमजोरी तथा मानसिक चिन्ताके कारण २४ घंटेके लिये बेहोश हो गया । उसी बेहोशीमें मेरे मनमें न जाने कैसे यह भावना आयी कि मेंहदीपुर जाकर बालाजीके मन्दिरमें बच्चीके निमित्त चाँदीका नेत्र चढ़ाना चाहिये एवं ३ किलोमीटर पैदल चलकर ही मन्दिरमें दर्शनार्थ जाना चाहिये । होश आने और कुछ मनोदशा स्वस्थ होनेपर मैंने अपने मनमें यह दृढ़ संकल्प लिया कि रेखाकी आँखमें रोशनी आनेपर मैं ३ किलोमीटर की दूरी साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए ही तय करके मन्दिरमें पहुँचकर नेत्र चढ़ाऊँगा ।

२३ मईको हमलोग सब मिलकर लगभग एक सौ आदमी बालाजी पहुँचे । अन्य सबलोग तो पैदल कीर्तन करते हुए चल रहे थे, किंतु मैंने अपने पूर्व निश्चयानुसार साष्टांग प्रणाम करते हुए मन्दिरके लिये प्रस्थान किया । इसका अनुसरण मेरी पत्नी तथा मेरे छोटे भाईने भी किया । मन्दिरमें पहुँचकर सर्वप्रथम हमने श्रीबालाजीके सविधि पूजनके सहित अपने संकल्पके अनुसार रजत-नेत्र चढ़ाये । पश्चात् वहाँके महंत श्रीकिशोरपुरीजीसे मिले और सब बातें मैंने उन्हें संक्षेपमें बतला दीं । मेरी बात सुनकर, उन्होंने मुझे इन शब्दोंमें सान्त्वना दी कि—'श्रद्धा, विश्वास, भक्ति और दृढ़ आस्थासे क्या सम्भव नहीं हो सकता ? श्रीबालाजी (हनुमान्‌जी) महाराजकी कृपासे बच्चीकी आँख बिल्कुल ठीक हो जाय इसमें संदेहकी बात ही क्या है ? बालाजीकी कृपापर सतत विश्वास रखो, उन्हींका ध्यान और स्मरण करो !'

बालाजी धाम (मेंहदीपुर)से लौटनेके थोड़े ही दिनों बादसे रेखाकी आँखमें शनैः-शनैः लाभ होने लगा था । आज उन्हींकी कृपासे रेखाकी आँख बिल्कुल ठीक है । उसमें अब रोशनी आने लगी है । रेखाने श्रीबालाजीके मन्दिरमें पहुँचकर यह कहा था कि 'भगवान्‌की शरणमें आनेसे सबको सहारा मिलता है ।' मन्दिरमें आनेपर, उसे **'इस ओर चलो, उस ओर मुड़ो'** का अदृश्य संकेत बराबर मिलता था । यह उसने स्वयं अनुभव किया और बादमें गद्गद कण्ठसे हम सबको भी बतलाया ।

आर्तजनोंकी श्रद्धा, विश्वास और प्रेमसे पूर्ण पुकार कलियुगके ये जाग्रत देवता, संकटमोचन हनुमान्‌जी महाराज अवश्य सुनते हैं । यह घटना इसका ज्वलन्त उदाहरण है । किंतु आवश्यकता है अडिग विश्वास, दृढ़ निष्ठा, अटूट आस्था तथा भक्तिभावयुक्त उनपर पूर्ण निर्भरताकी । फिर वे सँभाल लेते हैं । श्रीहनुमान्‌जी-के विषयमें यह सत्य कितना सटीक है कि—

संकट ते हनुमान छुड़ावैं । मन क्रम बचन ध्यान जो लावैं ।

मन-क्रम-वचन तीनोंके योगसे की हुई श्रीहनुमान्‌जी-की सकाम भक्ति भी आज प्रायः सर्वत्र फलदायी देखी जाती है, फिर यदि उनकी निष्काम भक्तिद्वारा मानव

जीवनका कल्याण हो जाय तो फिर इसमें संदेह ही क्या है ? यह सर्वथा विश्वसनीय तथ्य है—

'मंगल मूरति मारुत नन्दन। सकल अमंगल मूल निकंदन ॥'
पवन तनय संतन हितकारी। हृदय विराजत अवध बिहारी ॥
जय सियाराम जय जय हनुमान्।
संकट मोचन कृपानिधान !

—श्रीजयन्तीप्रसादजी महेश्वरी,

(४)

जय बाबा विश्वनाथ

(विश्वासः फलदायकः)

घटना २१ मार्च १९६६की है । उस दिन सरकारी रुपया जमा करना अनिवार्य था। बैंकमें अत्यधिक भीड़ थी। श्रीहरिनारायणजी, संथाल बाबा, गुरुधाम, वासीके एक शिष्य हैं। इन्हें भी एक अंचलके प्रधान सहायक होनेके नाते रुपया जमा करने आना पड़ा था। उन्हें थोड़ी देर हो गयी। बैंक-कर्मचारी विलम्ब हो जानेके कारण रुपया जमा लेनेसे इनकार करने लगे। इनका कथन था कि 'जय बाबा विश्वनाथ जमा तो होना ही है।' बैंकवाले किसी तरह तैयार न थे। समय वीतता गया। बात इनके अधिकारीको मालूम हुई तो उन्होंने भी शीघ्रतासे वहाँ पहुँचकर बैंक अधिकारीसे आग्रह किया, एजेंटसे भी मिले, लेकिन बैंक-अधिकारियोंने रुपये जमा लेनेसे एकदम इनकार कर दिया। प्रत्येक बार श्रीहरिनारायणजी कहते—'जय बाबा विश्वनाथ, जमा तो होना ही है।' इसपर बैंक-कर्मचारी और अधिकारी कुपित हो जाते। इनके अधिकारीद्वारा उच्च अधिकारी-तक बातचीत चली गयी। चूँकि राशिका जमा होना अनिवार्य था, इसलिये उन लोगोंने भी प्रयास किया। लेकिन निराशा ही हुई। समय कम था, नारायणजीपर उनकी लापरवाहीके लिये अधिकारी रंज भी हुए। परंतु उनके कण्ठसे सदा इसी शब्दका उच्चारण होता रहा—'जय बाबा विश्व[illegible]थ, जमा तो होना ही है।' इधर मुश्किलसे कुछ ही मिनट समय शेष रह गया। सभी परेशान, इनकी रट देखकर एक बैंक-कर्मचारीको न जाने कहाँसे प्रेरणा मिली। उसने साहस करके तुरंत जमा कर लिया। प्रसन्नतासे हरिनारायणजीने भगवान् विश्वनाथको धन्यवाद दिया तथा बैंकके सभी अधिकारियों और कर्मचारियोंने उनके अटल विश्वासकी प्रशंसा की। नारायणजी प्रायः सदा ही हर बातमें 'जय बाबा विश्वनाथ' की रट लगाते हैं। —श्रीसुंदर साहजी

(५)

भगवान् आशुतोषकी कृपासे खोया हुआ चेक मिला

सन् १९७६ की बात है। मेरी माँके नाम एक चेक आया था। वह चेक मेरे पिताजीने अपने कमरेमें किताबोंकी आलमारीमें रख दिया। उनकी आलमारीमें हमेशा धूल जमी रहती थी। जब-जब मैंने आलमारी साफ करनेका विचार किया, तब-तब पिताजीने इन्कार कर दिया। उन्होंने कहा—'इसमें मेरे कामके कागज रखे रहते हैं, तुम साफ करके इधर-उधर फेंक दोगी।' पूरे वर्षमें केवल एक ही बार यह बेचारी आलमारी साफ की जाती थी, दीपावलीके उपलक्ष्यमें सफाईके अवसरपर। पिताजी किताबोंको व्यवस्थित ढंगसे भी नहीं रखते थे जो सुरुचिपूर्ण नहीं लगती थीं। जो भी मेहमान आते उनका स्वागत-सत्कार भी वे उसी कमरेमें करते थे। मुझको बहुत झिझक थी, किंतु करती क्या ? एक दिन मुझे बहुत क्रोध आया और सोचा कि क्या मैं पढ़ी-लिखी नहीं हूँ, जो कागजोंको इधर-उधर कर दूँगी। मुझे पढ़ायीका अभिमान था। इसके साथ ही मैं अपनेको बहुत बुद्धिमान् भी समझती थी। चन्द अक्षर पढ़ लेनेमात्रसे मैं मन-ही-मन अपनेको बहुत समझदार और होशियार मानती थी तथा प्रच्छन्नभावसे इसका दर्प भी करती थी—'जस थोरे धन खल बउराई' वाली उक्ति चरितार्थ थी। इस जानकारीके अभिमानमें उन्मत्त हो मैंने एक दिन उस आलमारीको साफ कर दिया।

अपनी अत्यधिक समझके अनुसार जिन कागज-पत्रोंको कामका समझकर उन्हें उसमें व्यवस्थित ढंगसे सजाकर रखना चाहिये था, उन्हें फालतू समझकर बाहर गलीमें फेंक दिया। मैं अपनी योग्यताके अभिमान-में ऐसी चूर थी कि आलमारीमें रखे उस चेकको भी मैंने गलीमें फेंक दिया। मैं बहुत खुश थी कि मैंने बहुत होशियारीका काम किया है। व्यर्थके और कामके कागजोंकी पहचान करके फेंक देने और रखनेका उचित निर्णय ले लिया है। संयोगसे उसी दिन जब पिताजीने आलमारीमें उस चेकको देखा तो वह गायब था। पिताजीकी त्यौरी चढ़ गयी। कुपित हो कहने लगे—'मना करनेपर भी तुमने आलमारी साफ कर ही दी। तुम्हारा क्या गया, तुम्हारी होशियारीसे पचास-साठ रुपयेकी चपत लग गयी।' इस प्रकार वे मुझे भला-बुरा कहने लगे। मेरे चञ्चल स्वभावपर वे वैसे ही नाराज रहते थे; किंतु उस दिन तो उनके क्रोधका क्या कहना था—वह सीमा ही पार कर गया। मुझे अपार दुःख था। अपने कियेपर पश्चात्ताप भी था। अपनी होशियारीका वह गर्व तो अब न जाने कहाँ गलकर बह गया था।

मैं छोटी-से-छोटी आपत्तिमें भी प्रायः भोलेनाथ-का स्मरण किया करती हूँ। मुझे यह आभास होने लगा कि यह घटना भी उन्हींकी इच्छासे मेरे मिथ्या दर्पको दलित करनेके लिये ही घटित हुई है। यह सत्य है कि मेरे द्वारा अपने आराध्यदेवका स्मरण करनेपर वे (भोले बाबा) मुझे आसन्न संकटसे अवश्य ही छुटकारा दिलाते हैं। जो चेक न मिला तो पिताजीका क्रोध और भी तीव्रतर हो जायगा। उसी अनुपातसे मेरा क्षोभ भी बढ़ा जा रहा था। सब ओरसे निराश और अधीर होकर मैंने उन्हीं अशरणशरण, परमपिता भोलेनाथकी मन-ही-मन शरण ली। आर्द्रकण्ठसे मैं यह प्रार्थना करने लगी—'हे अन्तर्यामी प्रभो! आप बड़े दयालु हैं सदा दीनोंपर दया करनेवाले हैं। नाथ! मेरी विनय स्वीकार करें। मैं अवश्य ही बड़ी अभिमानी हूँ, बहुत स्वार्थी हूँ, फिर भी निरपराध हूँ। यद्यपि अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये ही आपका नामस्मरण किया करती हूँ, फिर भी आप ही मुझे निभाते हैं, अपनी दया-परवशता दिखाते हैं। आज भी आप ही मुझपर हमेशाकी तरह ही दया करें।' इस तरह नाना प्रकारसे विनय करने लगी।

अकारणकरुणाकर, आशुतोष भगवान्ने वास्तवमें अपना चमत्कार दिखाया। कुछ समय पश्चात् ही खोया हुआ चेक अप्रत्याशित रूपसे मिल गया। मेरी छोटी बहन खेलनेके लिये उसे बाहर गलीसे उठा लाई और खेल करके गुढ़-मुढ़करके उसे उसने आलमारीके कोनेमें रख दिया था। जब पिताजीने आलमारीको पुनः देखा तो वही चेक कुछ फटा हुआ रखा था। पिताजीने बताया कि चेक मिल गया है, किंतु कुछ फटा हुआ है। चेकके मिल जानेपर मेरी खुशीका पार न रहा। चेक खो जानेसे रुपयोंकी हानिका मुझे उतना मलाल न था, जितना दुःख मुझे अपनी नासमझी और हठवादितासे हुए परिणामका था जिससे पिताजीको अकारण कष्ट पहुँचा। एक मानेमें मुझसे पिताजीकी अवज्ञा भी हुई; क्योंकि उनकी इच्छाके विरुद्ध मैंने आलमारी साफ कर दी थी। मेरी समझसे भोलेबाबाने ही अपनी लीलाके द्वारा मुझे अपनी भूल-सुधारका यह अवसर दिया था। इसके बादसे तो अब मुझे अपने अभिमानी स्वभाव तथा स्वयं अपनेपर विरक्ति हो गयी है। अब मैं पहलेसे अधिक सावधान भी रहती हूँ; फिर भी मुझे अपनेमें अभी भी मिथ्या अभिमानके अवशिष्ट (चिह्न) यदा-कदा दिखायी दे ही जाते हैं। मुझे उन देवाधिदेव भगवान् शंकरकी कृपापर पूर्ण भरोसा है। मैं आशा करती हूँ कि उनकी अहैतुकी कृपासे मेरे अन्तःकरणस्थित अभिमान आदि कई अवगुण एक-न-एक दिन सदाके लिये अवश्य दूर हो जायँगे।

—सुश्री ममता उपाध्याय

'कल्याण'का आगामी (जनवरी १९७९ का) विशेषाङ्क 'श्रीसूर्याङ्क'

इधर सन् १९७२ से ७५ तक 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंमें क्रमशः पञ्चायतन व्यूहके रूपमें श्रीराम, श्रीविष्णु, श्रीगणेश एवं श्रीहनुमान-अङ्क प्रकाशित हुए थे। शिवाङ्क, शक्ति-अङ्क पहले प्रकाशित हो चुके थे। अतः सूर्याङ्कका आग्रह विद्वान् लेखकों एवं पाठकोंकी ओरसे निरन्तर होता रहा। वर्ष ५०, अङ्क ७, पृष्ठ ३२७पर, सूर्यपर एक लेख-(त्रैलोक्य-मङ्गल—सूर्यकवच) प्रकाशित होनेपर सूर्याङ्ककी माँग बहुत तीव्र हो गयी, जो अब भी जारी है। अतः पाठकोंके आग्रहपर 'कल्याण' के आगामी वर्षका विशेषाङ्क त्रिजगत्पूज्य, भुवनचक्षु प्रत्यक्ष ब्रह्मस्वरूप भगवान् सूर्यनारायणकी अर्चनाके रूपमें 'श्रीसूर्याङ्क' प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया है।

पञ्चदेवोंमें भगवान् सूर्य अन्यतम हैं। यही नहीं, ये त्रयीमय एवं त्रिदेव विरञ्चिनारायण एवं शंकरस्वरूप साक्षात् परब्रह्म भी हैं— *'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे, विरञ्चिनारायणशंकरात्मने।'* इसके अतिरिक्त प्राच्य-पाश्चात्य विज्ञानदर्शन एवं सभी प्रमुख धर्म-साहित्यमें सूर्यको विशिष्ट महत्त्व प्राप्त है। किमधिकम्, सारे कालचक्र, कर्मचक्र और जगच्चक्रकी यात्रा ही सूर्यकी गति-विधिपर निर्भर है। इसके अतिरिक्त जीवनके अन्य क्षेत्र भी सूर्यकी महिमा और महत्त्वसे प्रभावित तथा अनुप्राणित हैं। ज्ञानार्जन, उपासना, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक तथा प्रयोगात्मक सभी दृष्टियोंसे इस अङ्ककी उपयोगिता-सर्वजनीन सिद्ध होती है। अतः पूज्य आचार्यों, संत-महात्माओं, मनीषियों, अधिकारी विद्वानों, विचारकों, ज्योतिर्विदों, वैज्ञानिकों तथा भौगोलिकों और सभी मान्य प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानोंसे सभी प्रकारका सहयोग प्रार्थित है। विशेषाङ्ककी विषय-सूची अगले अङ्कमें प्रकाशित किये जानेकी सम्भावना है।

सम्पादक—'कल्याण'

दूसरोंके साथ

दूसरोंको आराम दो, स्वयं आराम मत चाहो।
दूसरोंको सुविधा दो, स्वयं सुविधा मत चाहो।
दूसरोंको सम्मान दो, स्वयं सम्मान मत चाहो।
दूसरोंको सेवा दो, स्वयं सेवा मत चाहो।
अपने-आप सबको आराम मिलेगा।
अपने-आप सबको सुविधा मिलेगी।
अपने-आप सबको सम्मान मिलेगा।
अपने-आप सबको सेवा मिलेगी।
दूसरोंकी आशा भरसक पूरी करो,
दूसरोंसे आशा मत करो।
दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करो।
अपना अधिकार त्याग दो।
दूसरोंके साथ उदारता बरतो,
अपने साथ न्याय बरतो।
दूसरोंके छोटे दुःखको बड़ा समझो,
अपने दुःखकी परवा मत करो।

भगवान् श्रीरामका स्तवन

भजेऽहं सदा राममिन्दीवराभं भवारण्यदावानलाभाभिधानम् ।
भवानीहृदा भावितानन्दरूपं भवाभावहेतुं भवादिप्रपन्नम् ॥
सुरानीकदुःखौघनाशैकहेतुं नराकारदेहं निराकारमीड्यम् ।
परेशं परानन्दरूपं वरेण्यं हरिं राममीशं भजे भारनाशम् ॥
प्रपन्नाखिलानन्ददोहं प्रपन्नं प्रपन्नार्तिनिःशेषनाशाभिधानम् ।
तपोयोगयोगीशभावाभिभाव्यं कपीशादिमित्रं भजे राममित्रम् ॥
सदा भोगभाजां सुदूरे विभान्तं सदा योगभाजामदूरे विभान्तम् ।
चिदानन्दकन्दं सदा राघवेशं विदेहात्मजानन्दरूपं प्रपद्ये ॥
महायोगमायाविशेषानुयुक्तो विभासीश लीलानराकारवृत्तिः ।
त्वदानन्दलीलाकथापूर्णकर्णाः सदानन्दरूपा भवन्तीह लोके ॥
लसच्चन्द्रकोटिप्रकाशादिपीठे मुदा वामपार्श्वे समाधाय सीताम् ।
स्फुरद्धेमवर्णां तडित्पुञ्जभासां भजे रामचन्द्रं निवृत्तार्तितन्द्रम् ॥

इन्द्र बोले—'जो नीलकमलकी-सी आभावाले हैं, संसाररूप वनके लिये जिनका नाम दावानलके समान है, श्रीपार्वतीजी जिनके आनन्दस्वरूपका हृदयमें ध्यान करती हैं, जो (जन्म-मरणरूप) संसारसे छुड़ानेवाले हैं और शंकरादि देवोंके आश्रय हैं, उन भगवान् रामको मैं भजता हूँ। जो देवमण्डलके दुःखसमूहका नाश करनेके एकमात्र कारण हैं तथा जो मनुष्यरूपधारी, आकारहीन और स्तुति किये जाने योग्य हैं, पृथ्वीका भार उतारनेवाले उन परमेश्वर परमानन्दरूप पूजनीय भगवान् रामको मैं भजता हूँ। जो शरणागतोंको सब प्रकारका आनन्द देनेवाले और उनके आश्रय हैं, जिनका नाम शरणागत भक्तोंके सम्पूर्ण दुःखोंको दूर करनेवाला है, जिनका तप और योग एवं बड़े-बड़े योगीश्वरोंकी भावनाओंद्वारा चिन्तन किया जाता है तथा जो सुग्रीवादिके मित्र हैं, उन मित्ररूप भगवान् रामको मैं भजता हूँ। जो भोगपरायण लोगोंसे सदा दूर रहते हैं और योगनिष्ठ पुरुषोंके सदा समीप ही विराजते हैं, श्रीजानकीके लिये जो आनन्दस्वरूप हैं, उन चिदानन्दघन श्रीरघुनाथजीको मैं सर्वदा भजता हूँ। हे भगवन्! आप अपनी महायोगमायाके गुणोंसे युक्त होकर लीलासे ही मनुष्यरूप प्रतीत हो रहे हैं। जिनके कर्ण आपकी इन आनन्दमयी लीलाओंके कथामृतसे पूर्ण होते हैं, वे संसारमें नित्यानन्दरूप हो जाते हैं। करोड़ों चन्द्रमाओंके समान देदीप्यमान सिंहासनपर तेजोमय सुवर्णके-से वर्णवाली और बिजलीके समान कान्तिमयी जानकीजी जिनके वामभागमें प्रसन्नतापूर्वक विराजमान हैं, उन दुःख और आलस्यसे हीन भगवान् रामका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ।'